साहित्यकार का व्यक्तित्व अंततोगत्वा उसकी रचनाओं से संपृक्त होता है। उसकी अपनी जिन्दगी, तंग गलियों में चक्कर काटती हुई, अस्तित्व-संघर्ष के प्रयासों में भले ही समाप्त हो जाए, किन्तु वहां भी उसकी सृजनशीलता अनिवार्य रूप से बरकरार रहती है। अस्तित्व-संघर्ष और सृजनशीलता के बीच पिसते-बनते व्यक्ति को ढूढना निस्संदेह साधना-सापेक्ष्य व्यवसाय है। इस दिशा में 'लक्षित मुक्तिबोध' एक आत्मीय एवं तटस्थ उत्तरदायित्व का प्रतिफलन है।

मुक्तिबोध अपने जीवनकाल में प्रायः अलक्षित ही रहे, किन्तु अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि उनके कृती-व्यक्तित्व की खोज समकालीन हिन्दी-लेखक की खोज है। हिन्दी साहित्य में मुक्तिबोध के स्थान को ढूढने का सीधा रास्ता यही है कि उन्हें यथा-संभव सही प्रसंगों-संबंधों के माध्यम से पहचानने की कोशिश की जाय। उनके 'सामान्य जीवन' का संघर्ष और 'विलक्षण व्यक्तित्व' का दर्शन सूक्ष्म अध्ययन का विषय है। इसके लिए पहले उन स्थानों की यात्रा अपेक्षित थी, जहां-जहां से गुजरती जीवन-धारा का वास्तविक वातावरण अपनी साधारणता से उभरकर

सका…

मोतीराम वर्मा
८१२८

बड़ी बहन मनोहरि
छोटे भाई भूरू भगत
और···उषा के 'अजात' को

क्रम

परिशिष्ट

९१७, तत्कालीन ग्वालियर स्टेट के श्योपुर (जिला मुरैना)
ामक कस्बे में ।

ा, अनझरा, सरदारपुर आदि स्थानों पर प्रारंभिक शिक्षा
र के माधव कॉलेज से ग्वालियर बोर्ड की मिडिल परीक्षा में
ल
लता प्राप्त
र कॉलेज से इंटरमीडिएट
के होल्कर कॉलेज से बी० ए० में असफल
लता प्राप्त
र विश्वविद्यालय से एम० ए० (हिन्दी) ।

नी जिद पर प्रेम-विवाह। माता-पिता ने विधिवत् शादी
ी, किन्तु वे सन्तुष्ट नहीं थे, उनके अपने कुछ और ही स्वप्न थे।
का सिलसिला
ट, मिडिल स्कूल, बड़नगर

नवंबर, १९३८, शारदा शिक्षा सदन, शुजालपुर,
अगस्त, १९३९, दौलतगंज मिडिल स्कूल, उज्जैन,
अक्तूबर, १९४१, शारदा शिक्षा सदन, शुजालपुर,
सितंबर, १९४२, मॉडर्न हाई स्कूल, उज्जैन,
१९४२ के मध्य में उज्जैन में प्रगतिशील संघ की स्थापना,
१९४३ (मई-जून) 'विश्ववंद्य', कलकत्ता,
१९४४ के अंत में इंदौर में राहुल जी की अध्यक्षता में फासिस्ट विरोधी लेखक-कांग्रेस का आयोजन,
मई, १९४४, भारत-सोवियत-मैत्री-संघ के पहले अधिवेशन में बंबई,
१९४५ के मध्य में वायु-सेना में भरती के लिए बंगलौर,
सितंबर, १९४५, 'हंस' के संपादक मंडल में बनारस,
नवंबर, १९४६, डी० एन० जैन हाई स्कूल, जबलपुर,
'New Age' के गुप्त रूप से सर्क्युलर,
'जयहिंद' में दो माह,
महाकोशल गर्ल्स कॉलिज में हिंदी की क्लासेज,
अक्तूबर, १९४८, सूचना तथा प्रकाशन विभाग, नागपुर,
अक्तूबर, १९५४, आकाशवाणी, नागपुर—१.५. १९५५ से मासिक कांट्रेक्ट पर,
अक्तूबर, १९५६, 'नया खून' का संपादन—'सारथी' में भी लिखते रहे,
जुलाई, १९५८, दिग्विजय महाविद्यालय, राजनांदगांव।

देहावसान

: सितंबर, १९६४, लम्बी बीमारी के बाद—मेडिकल इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली में।

वर्माजी अपने शोध-कार्य के सिलसिले में १७-६-७० से २८-६-७०

तक हमारे यहां रहे थे। उपरोक्त प्रामाणिक तथ्य-सामग्री भी उन्होंने मेरे पास से उन्हीं दिनों प्राप्त की थी। मैं थोड़ा-सा स्पष्टीकरण और आवश्यक समझता हूं।

सन् १६३८ में बी० ए० पास करने के पश्चात् पिताजी सर्वप्रथम बडणगर (म० प्र०) के मिडिल स्कूल में चार माह तक—जुलाई, १६३८ से अक्तूबर, १६३८ तक अध्यापक रहे। नवंबर, १६३८ में बडणगर से शुजालपुर मंडी के शारदा शिक्षा सदन में अध्यापक होकर चले गए। यह सदन स्थानीय नगरपालिका द्वारा संचालित था। सदन के हेड मास्टर डॉ० नारायणविष्णु जोशी थे। यहां उन्होंने १६३८ का शिक्षा-सत्र पूरा किया।

किन्तु १६३६ में दादा जी इंस्पेक्टर पद से रिटायर हो चुके थे। वे चाहते थे कि पिताजी सरकारी नौकरी अपनाएं। शायद यह बंधन उनके बौद्धिक वातावरण के अनुकूल नहीं था। अत वे शुजालपुर से लौट आए थे, किन्तु उज्जैन के दौलतगंज मिडिल स्कूल की अध्यापकी ही उन्होंने स्वीकार की। यहां का उनका कार्यकाल अगस्त, १६३६ से सितंबर, १६४१ तक रहा।

सन् १६४१ में जब आगरा से श्री नेमिचन्द्र जैन शुजालपुर मंडी में आए तो पिताजी को फिर सदन के वातावरण ने अपनी ओर खींचा और वे पुन पूरे उत्साह के साथ सदन के उन्मुक्त वातावरण में रम गए।

जुलाई, १६४२ का शिक्षा-सत्र सदन को चलाना शायद मुश्किल हो गया। परिणाम यह हुआ कि यह किस्ट बिखर गया। डॉ० जोशी बंबई चले गए, नेमिजी कलकत्ता और पिताजी उज्जैन के मॉडल हाई स्कूल में आ गए। इस बार उन्होंने अपने को यहां लम्बे समय तक बिरमाए रखा —सितंबर, १६४२ से जुलाई, १६४५ तक।

सितंबर, १६४५ में वे बनारस में त्रिलोचन शास्त्री के साथ हंस के संपादक-मंडल में शामिल हो गए। शायद यहीं से उनका पत्रकार का मुसीबतों भरा जीवन शुरू हो गया। अक्तूबर, १६४६ से वे बनारस से

जबलपुर चले गए।

जबलपुर के डी० एन० जैन हाई स्कूल में वे नवंबर, १९४६ से सितंबर, १९४८ तक रहे। यहां पर भी उन्हें आर्थिक कष्ट बना रहा। घर में बीमारी ने पीछा न छोड़ा। दैनिक 'जय हिन्द' में भी उन्होंने दो माह तक काम किया तथा कुछ दिनों तक महाकोशल मार्ट्स कॉलेज में वे हिन्दी की कक्षाएं भी लेते रहे थे। 'समता' के प्रकाशन में प्रमुख योगदान और 'न्यू एज' के गुप्त रूप से सदस्य बनकर, उनके जबलपुरी जीवन की अन्य गतिविधियों में से हैं।

नागपुर के प्रकाशन तथा सूचना विभाग में पत्रकार के रूप में अक्तूबर, १९४८ से सितंबर, १९५४ तक रहे। नई शुक्रवारी से ऑफिस तक का फासला वे पैदल ही तय करते। फिर रेडियो की अपेक्षाकृत बड़ी रकम की नौकरी की ओर बढ़े, शायद यही सोचकर कि बढ़ते हुए परिवार का कुछ तो दारिद्र्य दूर होगा। रात के सन्नाटे में टेकड़ी रोड से घर लौटने में और अकेले ही ठंडा खाना खाने में उन्हें अजीब-सा आनंद मिलता था। परंतु इस नौकरी में रहकर उन्हें स्वच्छन्द वातावरण में सांस लेना दूभर हो गया। जहां तीन साल का कांट्रेक्ट अन्यों को मिलता था, वहां पर ही पिताजी को एक साल का मिला। और आगे चलकर उसकी अवधि एक महीना कर दी गई। हर महीने के अंत में नौकरी खत्म होती और दूसरे महीने के शुरुआत में नये सिरे से शुरू होती। इतनी बड़ी 'रिस्क' को भी वे बड़े ही इतमीनान से झेलते रहे। रेडियो के हिन्दी प्रादेशिक-सूचना विभाग में अक्तूबर, १९५४ से अक्तूबर, १९५६ तक रहे। इसके बाद भाषावार प्रांत रचना में उनका तबादला भोपाल रेडियो स्टेशन के लिए हो गया। इतनी बड़ी रिस्क में भी वे भोपाल जाने को तैयार हो गए, किन्तु ऐन जाने के समय (तैयारी हो चुकी थी) उनके निकटवर्ती मित्रों ने उन्हें यह रिस्क लेने की सलाह नहीं दी। शायद वे जिंदगी में हर प्रकार की रिस्क लेकर ही जीना चाहते थे। स्वर्गीय स्वामी कृष्णानंद सोख्ता ने उन्हें 'नया खून' सौंप दिया। यह बात सन् १९५६ के २७ अक्तूबर की है। रेडियो की

पवेक्षा 'नया खून' में पैसा कम था तथा परेशानियां कहीं अधिक थी। पिताजी को पैसे का लोभ नहीं था, उन्होंने 'नया खून' को अपना लिया।

परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपनी सारी शक्ति और लगन 'नया खून' के हर पृष्ठ पर बिछा दी। इतनी ही लगन से वे कॉलम लिखते, जितनी तन्मयता से वे कविता लिखते थे। 'नया खून' की बिक्री बढ़ गई। स्वाभाविक ही स्वामी जी ने पचीस रुपये तरक्की कर दी।

किन्तु उनका स्वास्थ्य दिनो-दिन गिरता गया। स्वामीजी की आंखों से यह बात छिपी नहीं। वे उनके लिए घर से एक बड़ा दूध का लोटा लाने लगे। नागपुर के प्रसिद्ध डाक्टर दुबे (कुंतीलाल दुबे भाई) के यहां उनकी जांच करा दी और औषधि वगैरह की भी व्यवस्था कर दी। स्वास्थ्य मे लाभ तो विशेष नहीं हुआ किन्तु जेब से पैसे निकल गए। इसका दु:ख पिताजी को बराबर बना रहा। वे अपने लिए या कहिए अपने शरीर के लिए कभी कुछ नहीं करते थे। ज्यादातर दूसरों के बारे मे ही सोचते थे।

किसी प्रकार दिन बीत रहे थे। अचानक अप्रैल, १९५८ में स्वामी जी से अनबन हो गई। अर्थ का मामला था। दोनो का व्यावसायिक रिश्ता जरूर टूट गया, लेकिन दोनों एक-दूसरे की चर्चा करते। एक बार स्वामी जी मुझे मिले। अपने रिक्शा में बैठाकर घुमाने ले गए और पिताजी के बारे में पूछताछ शुरू कर दी। 'नया खून' छूटने के पहले घर पर भयंकर बीमारी चल रही थी, त्राहि-त्राहि हो रही थी। शायद इसी कारण पिता जी स्वामी जी की बात से राजी नहीं हुए और 'नया खून' छोड़ दिया।

इस परिस्थिति में भी पिताजी को मैंने असंतुलित होते नहीं देखा। जितना उनसे शारीरिक श्रम होता, उतना वे जरूर करते थे।

कहते हैं, डूबते को तिनके का सहारा। पिताजी को पाठ्य-पुस्तकें लिखने का काम मिल गया। उन्होंने सामाजिक अध्ययन की पुस्तकें लिखीं, जो आज भी महाराष्ट्र-प्रदेश में चल रही हैं। किसी तरह बीमारी का निराकरण और घर चलता रहा।

इसके बाद जून, १९५८ में राजनांदगांव से श्री शरद कोठारी आए और उन्होंने कविजी की स्थिति बतलाते हुए उन्हें लेक्चररशिप के लिए ऑफर दिया। मुद्दतों के बाद वह अवसर आया, जिसे वे चाहते थे। एकदम राजी हो गए। उनके जीवन का सबसे अच्छा समय, हर दृष्टि से, राजनांदगांव का ही रहा। इस छोटी-सी जगह से, यहां के लोगों से और घर के आसपास वातावरण से उन्हें विशेष मोह हो गया था। यूं कहिए कि इन सबने अपनाव कर लिया था।

रमेश गजानन मुक्तिबोध
१-सी, मार्ग स्ट्रीट-४,
सेक्टर-५, भिलाईनगर।

२३ अक्तूबर, १९७०

मुक्तिबोध की खोज में

शोध-यात्रा का स्वरूप : अपने शोध-कार्य—'गजानन माधव मुक्तिबोध व्यक्ति, अनुभव और अभिव्यक्ति'—की रूपरेखा तैयार करने के प्रयास में यह बात स्पष्टतः लक्षित की गई थी कि मुक्तिबोध के सामान्य जीवन का संघर्ष और विलक्षण व्यक्तित्व का रहस्य सूक्ष्म अवलोकन का विषय है। शमशेर जी ने मुक्तिबोध की जीवन-कथा को उनके दो छोटे भाइयों और छह परिचितों से सहायता लेकर क्रमबद्ध किया था, जिसे 'चांद का मुंह टेढ़ा है' की भूमिका में प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त मुक्तिबोध के जीवन के सम्बन्ध में कतिपय सूचनात्मक या संस्मरणात्मक लेख, और मुक्तिबोध के थोड़े-से व्यक्तिगत पत्र यत्र-तत्र प्रकाशित हुए हैं। इस संपूर्ण उपलब्ध सामग्री के आधार पर मुक्तिबोध के व्यक्ति-व्यक्तित्व का कोई धुंधला-सा ही चित्र बनाया जा सकता है। इसलिए उनके जीवन के अपरिचित संदर्भों की खोज में उन सभी स्थानों की यात्रा अपेक्षित थी, जहां-जहां वे रहे थे; उन व्यक्तियों से संपर्क स्थापित करना था, जो जीवन-संघर्ष के तब तो सीधे साझीदार थे और अब दुर्भाग्यवश केवल साक्षी बनकर रह गए हैं।

शोध-यात्रा का स्वरूप निश्चित करना बहुत कठिन व्यवसाय नहीं था। मुक्तिबोध की जीवन-यात्रा के प्रमुख पड़ावों की जानकारी तो ज्ञात थी ही, उनके परिवार के सदस्यों, मित्रों और परिचितों के अते-पते मालूम करना शेष था। यहां देख, वहां खोज; इससे पूछ, उससे मिल—अंततः

इसके बाद जून, १९५८ में राजनांदगांव से श्री शरद कोठारी आए और उन्होंने कवि की स्थिति बताते हुए उन्हें लेक्चररशिप के लिए ऑफर किया। मुद्दतों के बाद यह अवसर आया, जिसे वे चाहते थे। एकदम राजी हो गए। उनके जीवन का सबसे अच्छा समय, हर दृष्टि से, राजनांदगांव का ही रहा। इस छोटी-सी जगह से, यहां के लोगों से और घर के आसपास वातावरण से उन्हें विशेष मोह हो गया था। यूं कहिए कि इन सबको आत्मसात कर लिया था।

रमेश गजानन मुक्तिबोध
१-सी, क्रास स्ट्रीट-४,
सेक्टर-२, भिलाईनगर।

२३ अक्तूबर, १९७०

मुक्तिबोध की खोज में

शोध-यात्रा का स्वरूप : अपने शोध-कार्य—'गजानन माधव मुक्तिबोध व्यक्ति, अनुभव और अभिव्यक्ति'—की रूपरेखा तैयार करने के प्रयास में यह बात स्पष्टत. लक्षित की गई थी कि मुक्तिबोध के सामान्य जीवन का संघर्ष और विलक्षण व्यक्तित्व का रहस्य सूक्ष्म अवलोकन का विषय है। शमशेर जी ने मुक्तिबोध की जीवन-कथा को उनके दो छोटे भाइयों और कुछ परिचितों से सहायता लेकर क्रमबद्ध किया था, जिसे 'चाद का मुह टेढ़ा है' की भूमिका में प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त मुक्तिबोध के जीवन के सम्बन्ध में कतिपय सूचनात्मक या संस्मरणात्मक लेख, और मुक्तिबोध के थोड़े-से व्यक्तिगत पत्र यत्र-तत्र प्रकाशित हुए हैं। इस संपूर्ण उपलब्ध सामग्री के आधार पर मुक्तिबोध के व्यक्ति-व्यक्तित्व का कोई धुंधला-सा ही चित्र बनाया जा सकता है। इसलिए उनके जीवन के अपरिचित संदर्भों की खोज में उन सभी स्थानों की यात्रा अपेक्षित थी, जहां-जहां वे रहे थे; उन व्यक्तियों से संपर्क स्थापित करना था, जो जीवन-संघर्ष के तब तो सीधे साझीदार थे और अब दुर्भाग्यवश केवल साक्षी बनकर रह गए हैं।

शोध-यात्रा का स्वरूप निश्चित करना बहुत कठिन व्यवसाय नहीं था। मुक्तिबोध की जीवन-यात्रा के प्रमुख पड़ावों की जानकारी तो ज्ञात थी ही, उनके परिवार के सदस्यों, मित्रों और परिचितों के अते-पते मालूम करना शेष था। यहां देख, वहां खोज; इससे पूछ, उससे मिल—अतत.

तत्सम्बन्धी एक लम्बी सूची अस्तित्व में आ गई थी। कहीं अनाहूत-सा न लगे, इस विचार से सम्बन्धित व्यक्तियों से व्यक्तिगत रूप में जाकर मिलने की अपेक्षा पहले डाक द्वारा सम्पर्क स्थापित करना ही उचित प्रतीत हुआ था। इसी प्रयास-क्रम में विभिन्न प्रकार की सम्भावित प्रश्नावलियों ने भी अपना रूप ले लिया था। उन्हें प्रेषित करते हुए, सुविधा की दृष्टि से, *मिलने की अनुमति चाही थी*। परिवार के सदस्यों के समक्ष प्रश्नवाचक बनकर उपस्थित होना असंगत-सा लगता, इसलिए उनके प्रसंग में प्रश्नावली की योजना को स्थगित ही रखा गया था। मिलने की अनुमति चाहने के साथ ही इस आशय का उल्लेख भी आवश्यक था कि मेरी जिज्ञासा मुक्तिबोध के जीवन तथा व्यक्तित्व तक सीमित है। वस्तुत: तब मैं उनके लेखन पर प्रश्न पूछने योग्य स्थिति में कदाचित् नहीं था।

यहां मुझे श्रीकांत वर्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए, उन्होंने 'दिनमान' के कार्यालय में मुझे यह परामर्श दिया था कि दिल्ली में रहने वालों से तो बाद में भी मिला जा सकता है, पहले मैं बाहर हो आऊं. *बाहर जरूरी नहीं है सभी-कुछ प्रामाणिक मिले, इसलिए तुम्हें सावधान* रहना पड़ेगा। मुक्तिबोध प्रतिभाशाली साहित्यकार थे, वहां दूसरी विधा के लोग भी हैं—कुछ तो कहते हैं कि मुक्तिबोध को भूत आते थे। जितनी सामग्री इधर-उधर बिखरी है, उसे बटोर लाओ, फिर आकर स्वयं निर्णय लेना।

मेरे एक अनुभवी मित्र ने मुझे यह बात अच्छी तरह समझाई थी कि मेरी वजह से किसी को अतिरिक्त ढंग की असुविधा नहीं होनी चाहिए. *तुम उनकी सहूलियत के मुताबिक, जितना समय वे दें, ले सकते हो और* इस बीच यदि वे चाय-वाय पिलाना चाहें, तो कोई हर्ज नहीं, इसके अलावा किसी तरह की मेहमानी को तरकीब-सी लड़ाकर टाल देने में ही अक्लमंदी होती है। तुम्हारा बोरिया-बिस्तरा हर हालत में होटल या धर्मशाला में ही रहे, यह ध्यान तुम्हें रखना ही पड़ेगा।

अब यात्रा का एक नक्शा-सा सामने था—कहां-कहां किस तरह से

ता है। सर्वप्रथम नागपुर जाना तय हुआ। वहां मुक्तिबोध-परिवार
के सबसे बड़े सदस्य, गजानन माधव मुक्तिबोध के छोटे भाई शरच्चंद्र माधव
मुक्तिबोध निवास करते हैं। मेरा अनुमान था, शरच्चंद्रजी की सहायता
से उनके बड़े भाई साहब की जीवन-यात्रा के अज्ञात प्रसगों की भूमिका
तैयार कर सकूंगा। संयोगवश, यात्रा के अपने क्रम की दृष्टि से भी पहले
नागपुर पहुंचना ही सुविधाजनक था। नागपुर से राजनांदगांव, भिलाई,
रायपुर, जबलपुर, भोपाल, शुजालपुर, उज्जैन, इंदौर होते हुए श्योपुर और
फिर वापस दिल्ली—मेरी यात्रा के ये पूर्वनिर्धारित सोपान थे।

डायरियां : अपनी शोध-यात्रा की डायरी के उन अंशों को, जिनका
सीधा सम्बन्ध मेरी केन्द्रीय जिज्ञासा की क्रिया-प्रक्रिया से रहा था, मैं
मूल रूप में ही उद्धरित करना चाहूंगा।

नागपुर : १०-६-७० : सस्ते के चक्कर में फंसकर, धाट रोड पर स्थित
एक निवास की एक खोली में कैद हूं। दम-घोंट वातावरण का भी अपना
मजा होता है। अजीब-सी दुर्गन्ध, पता नहीं किस चीज की है और बराबर
मच्छरों की गालियों की बौछार, बाहर लगातार बारिश। लेकिन चिन्ता
की कोई बात नहीं, यह तो रात का बसेरा है, दिन में यहां रहने का कम
ही अवसर मिला करेगा। वैसे और सब ठीक रहा, मैं बहुत खुश हूं।

ग्रांड ट्रंक जी० टी० एक्सप्रेस में बैठकर दिल्ली छोड़ते समय मेरा मन
सम्पूर्ण उत्साह से आप्लावित था। उसी रौ में, अपने एक बातूनी
सहयात्री के इस प्रश्न के उत्तर में कि मुझे कहां उतरना है, मैंने बिना पूछे
अपनी यात्रा का उद्देश्य भी उसे बता दिया था। कैसी बेवकूफी थी :
मुक्तिबोध को जानते हैं? उन सज्जन को हिन्दीवालों में रुचि न
थी, उदासीन भाव से वे इतना ही कह सके कि हां, बहुत पहले
अखबार में उनके बारे में कुछ छपा था। मैं उनकी याददाश्त की तारीफ
करना चाहता था, लेकिन वैसी हिम्मत नहीं हुई। फिर फटाफट ऊपर की
बर्थ पर मैंने अपनी चादर बिछाई और चुपचाप मुक्तिबोध की 'भूल-गलती'
पढ़ने लगा : महसूस होता है कि वह बेनाम/ बेमालूम दर्रों के

इलाके में / गधाई से सुनहरे तेज अक्षरों के धुंधलके में / सुईयां कर रहा साफ़कर···

आज यहां पहुंचकर, इस गोष्ठी में अपनी अवस्थिति के उपरान्त, शरच्चन्द्र जी से मिलने गया—शंकरनगर की ओर एक सीधी सड़क चौराहे तक फैली है। रिक्शावाला राजस्थानी सहसा अपनी दुःखगाथा सुनाता रहा : पढ़ा-लिखा हूं, लेकिन काम नहीं मिला, अब लाचारी में यही सही··· लेकिन मेरे मन में आशंका-सी थी, कहीं वे बाहर न गए हुए हों, चूंकि अपने आने की सूचनार्थ भेजे पत्र का उनकी ओर से मुझे कोई उत्तर नहीं मिला था। उन्हें घर पर ही पाकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई।

शंकरनगर में किसी से भी पूछिए, वह उनके निवास-स्थान का पता बता सकता है। मराठी के प्रतिष्ठित कवि होने के नाते कॉलोनी वाले उन्हें अच्छी तरह जानते हैं। वैसे वे मॉरिस कॉलेज में प्राध्यापक हैं। कॉलेज की छुट्टियां थीं और वे दो दिन पहले ही बाहर से लौटे थे। मेरा खयाल था, आज मैं उनसे समय निश्चित करके वापस आ जाऊंगा, मगर औपचारिक बातचीत अनायास ही मूल विषय से सम्बन्धित हो गई, जिसका सिलसिला दो-ढाई घंटे तक चलता रहा।

शरच्चंद्र जी अपने बड़े भाईसाहब के व्यक्तिगत जीवन के उन प्रसंगों को, जो सीधे पारिवारिक सम्बन्धों से टकराते हैं, सहज ही प्रकट करने के पक्ष में नहीं थे। सोचा जा सकता है, वहां एक दुविधा उनके मन में रही थी : देखिए साहब, साहित्यिक क्षेत्र की बाड़ेबन्दियों के प्रति मेरी कतई सहानुभूति नहीं है, न ही मैं उनसे उलझने का शौकीन हूं। 'राष्ट्रवाणी' में प्रकाशित अपने संस्मरणात्मक लेख 'मेरे बड़े भाईसाहब' की प्रतिक्रियाओं को जान-सुनकर मैं यह अनुभव करने लगा हूं कि हिन्दी में ऐसी सक्रियता भी बहुत है, जो वास्तविक तथ्यों का सही अर्थ खोजने की अपेक्षा गलत अनुमान भिड़ाने में ही अपनी मानसिक शक्ति का सदुपयोग समझती है। [illegible] माहौल का कोई आतंक मेरे ऊपर चाहे नहीं है, लेकिन मैं उससे [illegible] हूं। मुझे डर है, शायद मैं आपकी जिज्ञासा के अनुरूप

सहायक न हो सकूगा, अलबत्ता भाईसाहब के साहित्य पर यदि चर्चा अपेक्षित हो, उसमे मैं शामिल हो सकता हू।

प्रस्तुत स्थिति मे, जबकि मेरी जिज्ञासा मुक्तिबोध के अपरिचित जीवन के अपरिचित सदर्भो तक सीमित है, समाधान का एक रास्ता स्वयं को उनके भरोसे पर छोड देना हो सकता था। किसी प्रकार अपने बड़े भाईसाहब के जीवन-वृत्त को लेकर नितात परिचयात्मक तथ्यो को प्रकट करना तो उन्होने स्वीकार कर लिया था; घटनाओं के प्रसगानुकूल कारण पूछने पर वे अपने सपर्क मे आए, मुक्तिबोध से असंपृक्त नही रह पाते हैं, बल्कि वहा उनकी अकुठित रुचि भी लक्षित होने लगती है, यद्यपि उनमे अद्भुत वाक्य-सयम है, जिससे मुझे डर लगता है। यदि मैं उनके समक्ष अपनी विवशता को उस स्तर पर ला सका, जहा कोई सकोच नही रह जाता है, तो यह मेरे लिए प्रीतिकर अनुभव होगा।

कल फिर उनके यहा जाना है, समय ले आया हूं। अब सोना चाहिए, पता नही नीद आएगी या नहीं। अगरबत्ती से हवा मे नमक-सा घुल गया है।

११-६-७० : रात-भर वर्षा की झडी, टूटता-जुड़ता नींद का सिलसिला, मुक्तिबोध के अलावा कुछ नही सूझता। सिगरेट बढ़ती ही जाती है, सुबह सिर भारी-भारी था, फिर भी लिखता-पढता रहा। कुछ नोट किया, पुस्तकों और पत्रिकाओं मे स्लिप लगाए।

'तारसप्तक' सहित मुक्तिबोध की सारी प्रकाशित पुस्तकें, उनकी स्मृति में 'राष्ट्रवाणी', 'वीणा' और 'आलोचना' के विशेषाक, दूसरी पत्रिकाओ की सम्बन्धित लेख-सामग्री, सब मैं अपने साथ बाध लाया हूं, यह अच्छी बात है। मौके के मुताबिक उन्हें पढ़ा जा सकता है। आज शरच्चंद्र जी का 'मेरे बडे भाईसाहब' संस्मरण पढा, चूकि उनसे मिलने जाना था; श्रीकांत वर्मा का लेख 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' (ज्ञानोदय) भी, जो मुक्तिबोध के नागपुर-जीवन पर प्रकाश डालता है।

ग्यारह बजे दैनिक 'नवभारत' के संपादकीय विभाग मे जब मैं शैलेन्द्र

जी से मिलने गया, वे अपने काम में बुरी तरह व्यस्त थे : बैठिए साहब, बहुत प्रसन्नता हुई। आप कब तक यहां हैं ? कहां ठहरे हैं ?···तब घर पर ठीक रहेगा, बस सुबह साढ़े आठ बजे।

साँझ में आकर फिर वही लिखना-पढ़ना। खाना खाकर लेटा-लेटा सोच रहा था, खाने की खुमारी या रात की उनींदी, कोई-सा कारण रहा हो, झपकी आ गई। चार बजे का समय शरच्चन्द्र जी ने लिया हुआ था, जल्दी-जल्दी तैयार होकर शंकरनगर पहुंचा। वे जैसे प्रतीक्षा में थे, बैठते ही एकदम विषय ले लिया।

तीन घंटे तक मैं उन्हें सुनता रहा, जैसे कक्षा में विद्यार्थी अध्यापक के नोट्स लेता रहता है, बीच-बीच में प्रश्न पूछ लेता है। पारस्परिक निकटता की अनुभूति ने मेरे अजनबी जागृत को पूर्णतः हटा दिया था, यह तो शायद मैं नहीं कहूंगा, लेकिन उस अनुभूति से जुड़कर उनकी जो आत्मीयता मुझे प्राप्त हुई, उसके लिए मैं सचमुच अनुगृहीत हूं। बातचीत एक निष्कर्ष तक पहुंची, जहां पर यह सचाई साफ-साफ दिखाई देने लगती है कि मुक्तिबोध के प्रति जितना अतिरिक्त आवेश है—श्रद्धा, द्वेष या अज्ञानवश—उसे कट जाना है, छिल जाना है। क्या यह काम आज से ही शुरू कर देना चाहिए ?

बारिश में भीगता गया था, तर होकर लौटा, अब यहां दम घुटता रहा हूं। घूमने की इच्छा होती है, लेकिन चारों ओर चिप-चिप, कैसे जाऊं ? *सारा शहर घूमना है, कल देखूंगा। और यह दुर्गन्ध ? अभी वह लड़का* चाय देने आया तो बता रहा था, नीचे चाय और लहसुन का बड़ा गोदाम है। धुआं-सा उठ रहा है। कहीं किसी का दिल तो नहीं जल रहा। दो-चार चिट्ठी लिखीं, एक अपने उस यार की भी, जिससे लगता है, याराना महंगा पड़ेगा।

१२-६-७० : सुबह शैलेन्द्रकुमार जी के *यहां पहुंचने में थोड़ा* विलंब। उनका घर नई शुक्रवारी में डॉ० आकरे की डिस्पेंसरी के पास है, रिक्शावाला मुझे डॉ० आकरे के घर ले गया। वहां बूढ़े पिता ने मेरे

'शैलेन्द्र जी से मिलना है' कथन पर ध्यान न देते हुए दिल्ली से आए हैं, बैठो-बैठो, अभी आते हैं, स्नान कर रहे हैं। आए तो वे शैलेन्द्र जी नहीं, डॉ० आकरे थे: अच्छा, आप इस सिलसिले में···बैठिए, चाय आ रही है, मैं उन्हें फोन कर देता हूं, वे मेरे दोस्त हैं।··· मुक्तिबोध पर ? हां, मैंने उन्हें देखा है, वे चर्चित थे, तब मैं साइन्स कॉलेज में पढता था। अपने एक सहपाठी के पास जाता था, वहीं गणेश पेठ में तब वे रहते थे। उनके भाई शरद मराठी के कवि हैं, इसलिए मैं उन्हें जानता हू। अब वे कहां हैं ?···नहीं रहे ? याद आया, कुछ सुना था, उन दिनों भोपाल में दाखिल होने पर हा-हुल्ला हुआ था, किसी चीफ मिनिस्टर ने इंट्रेस्ट लिया था— हां-हां, मेरा परिचय बस इतना ही है।

डॉ० आकरे जवान हैं और इतने प्रसिद्ध—सारा इलाका जानता है। उनका आतिथ्य मिला और आदरपूर्वक विदाई, यह खूब रही। लेकिन यह कैसी बस्ती है—इर्द-गिर्द गंदे छोटे-छोटे घर, गरीब, झोपड़े, गली-गलियारे गांव जैसे, साथ ही यहां-वहां कुछ शालीन बौद्धिक-व्यवसायी, जिनका रहन-सहन अपने ढंग का, जैसा डॉ० आकरे के यहां अभी देखा था।

शैलेन्द्र जी पलंग पर अधलेटे लिख रहे थे। विलंब का कारण बताया तो हंसे। बहुत जल्दी-जल्दी बोलते हैं अच्छा तो अब प्रश्न कीजिए। काव्य पर तो शरच्चंद्र मुक्तिबोध ही ठीक बता सकेंगे, मैं तो जीवन के बारे में, और पत्रकारिता का परिचय दे सकता हू। लेकिन प्रश्न कीजिए, प्रश्नों से तो बहुत कुछ सुलझता है, मैं प्रश्नों के लिए तैयार हू, वरना मुझे कुछ याद नहीं आएगा।

फिर वे अपने संपर्क में आए मुक्तिबोध का किस्सा सुनाते रहे, जैसे कोई पुराने मीठे दर्द की परतें उतारता है। देर हो गई थी, उन्हें दफ्तर जाना था, इसलिए बात कल पर छोड़ दी। कल वे मुझे 'नया खून' की फाइलें भी दिखायेंगे, जो उनके यहां सुरक्षित हैं।

वहां से पैदल नई शुक्रवारी के भीड़ रास्तों के ठाठ देखता हुआ। यहीं-कहीं किसी गंदी गली में मुक्तिबोध रहा करते थे, कल वह जगह

देखूंगा।

बाहर निकलकर चौड़ी सड़क का बाजार, जिसके एक ओर घंटा-घर, दूसरी ओर थोड़ी दूर जुम्मा टैंक के तिराहे पर तिलक की मूर्ति। विशाल जुम्मा टैंक के किनारे-किनारे सड़क, दृष्टि के सामने धुआं उगलती मिलों की चिमनियां, मोड़ पर एक मंदिर, माथा टेकती गरीब नारियां, घाट-पेड़ियां, उधर श्मशान के पीपल-वृक्षों पर लटकते घड़े, मन में बेचैनी—मैं डरते-डरते कैमरे का क्लिक दबाता हूं। एकदम अनाड़ी की चाल, चलमचल, कांच-टुकड़े-जमे कारखाना-अहाते के पास-पास, फिर यहां इस प्याज-लहसुन से गधाती लॉज में, आखिर भूख लग आयी थी। पापी पेट के लिए लोग क्या-कुछ नहीं सहते हैं—सड़ांध, शोषण, श्मशान-यात्रा तक!

आराम करना अखरता है। अमूर्त-सी यातना को नजरअंदाज करके जीना उतरता हूं। मेरी खोली तीसरी मंजिल पर है। बादलों में सूरज की लुका-छिपी, चिलचिलाती शरारती धूप, मैं सड़क पर चलता हुआ अपनी हंसी छिपाता हूं। सुखद भुलावे की एक छलना, वह मुझे देखकर आंखें मिचमिचाती है। देह में झुरझुरी दौड़ जाती है।

लम्बी पद-यात्रा। रेलवे लाइन के नीचे पुल से गुजर कर, बायीं ओर टेकड़ी रोड पकड़ी। यह वही रास्ता है, जिससे मुक्तिबोध प्रतिदिन पैदल आते-जाते थे—अपनी मध्यप्रदेश सूचना-प्रकाशन विभाग और रेडियो की नौकरी के दिनों में। जीवन-बीमा निगम की विशाल बिल्डिंग, पार्क, कालोनियों का क्रम, संग्रहालय, आकाशवाणी। यहां पूछताछ की—मुक्तिबोधकालीन कोई कर्मचारी है? भूल जाओ, गुजरे जमाने के चेहरे अब कहां! मैं उस झोंपड़ीनुमा स्टाल की तलाश करता हूं, जहां वे चाय पीने के लिए दिन में शायद कई बार आया करते थे। यह मेरी बेहूदा हरकत थी। लोग मुझे विस्मय से देखकर मुसकराने लगे।

कचहरीवाला मोड़ छूकर मॉरिस कॉलेज, नागपुर विश्वविद्यालय की सुर्पी हवा, पुरानी यादों में ऊंघते वृक्ष, शानदार बगीचे, सुनी-चौड़ी

सड़कें। मैं अपने-आप तब और अब के परिवर्तन का अनुमान भिड़ाता हूं; नई शुक्रवारी की अंधेरी-सीलन और इन खूबसूरत भवनों की चमक-दमक का अन्तर निकालता हूं। यह सब उतना ही पेचीदा सवाल है, जितना हिन्दुस्तान। मुझे मेरे वर्ग की चेतना हिला देती है।

थक गया था, वरना नई शुक्रवारी के चक्कर लगाकर जुम्मा टैंक पर रात बिताने का इरादा था। जुम्मा टैंक, मुक्तिबोध की सैरगाह, वहां मैं रात के ग्यारह बजे पहुंचा। अब दो का वक्त है। क्या खूब वातावरण था : काले-भूरे बादलों में झांकता आधा चांद, गंजा-सा, उसकी एयारी रोशनी में एम्प्रेस मिल्स की चिमनियों का धुआं। तभी भोंपू बजता है। तालाब के गहरे काले जल में सिहरन-सी दौड़ गई। उस तिराहे से बार-बार वह नज़ारा देखता हूं—सामने है अंधियारा ताल और स्याह। उसी ताल पर संवलाई चांदनी, धूम्र-मुख चिमनियों के ऊंचे-ऊंचे उद्गार! कल्पना में घूमते हैं—गलियों के टूटे-फूटे झोंपड़े, अधनंगी मजदूरिनें, भूखे बच्चे और···लेकिन मैं कवि नहीं हूं। सोचता हूं, कोई साथ होता, लम्बी बहस छिड़ती। कोई नहीं है। वह वहां है—दूर!

१३-६-७० : सुबह आठ बजे शरच्चन्द्र जी के यहां महाराष्ट्रीय नाश्ता, पूना की याद ताज़ा हो आयी। वहां मैंने अपनी जिन्दगी के सर्वश्रेष्ठ और शायद सबसे निर्णायक दिन गुज़ारे थे। आज मेरे लिए यह प्रीतिकर अनुभव था, हर लिहाज से यह उनकी उदारता ही थी कि अस्तत आश्वस्त होकर उन्होंने कहा : नाते-रिश्ते अपनी जगह होते हैं, किन्तु जहां वैज्ञानिक विवेचना का प्रश्न आता है, वहां कोई सेंसर नहीं रह जाता है। हमें अपना दृष्टिकोण बहुत सफाई और बहुत धैर्य से समझना-समझाना चाहिए—तटस्थता और संतुलन के साथ।

उन्होंने 'चांद का मुह टेढ़ा है' के मराठी अनुवाद की पांडुलिपि मुझे दिखाई। मैं मराठी बस पढ़ लेता हूं, उनका अनुवाद वहां तक मूलात्मक है, इतनी समझ मुझमें नहीं है। अनुवाद के साथ वे अपनी भूमिका प्रकाशित कराएंगे, जिसका लिखना अभी शेष है।

उनके परामर्श से मैंने अपनी श्योपुर (जिला मुरैना) की यात्रा को स्थगित कर दिया है, चूंकि श्योपुर का महत्त्व, मुक्तिबोध का जन्म-स्थान होने के कारण, आकस्मिक ही है—वहां जाकर उनके जीवन के किसी संदर्भ की तलाश पागलपन कहला सकती है। श्योपुर में माधवराव जी थानेदार थे, मुक्तिबोध के जन्म के कुछ दिनों बाद उनका दूसरी जगह तबादला हो गया था, इसलिए उस अबोध अवस्था का वहां अब कोई स्रोत उपलब्ध नहीं है।

मैं अपना कैमरा साथ ले गया था, उसका उपयोग उन्होंने नहीं करने दिया, शायद प्रदर्शन से बचने के ख्याल से: किसी स्थिति या प्रसंग को अनावश्यक रंग देना अरुचिकर लगता है, उसमें कोई तुक नहीं होती। आखिर मेरी फोटो का तुम क्या करोगे ? मैं समझता हूं, मेरी वर्जना को तुम अन्यथा नहीं लोगे, प्रचलन के विपरीत मेरी बात का तुम्हें बुरा नहीं मानना चाहिए।

मेरी जिज्ञासा का केन्द्र-बिन्दु मुक्तिबोध है, इसलिए अपने दूसरे अनुरोधों की अवहेलना मैं आसानी से कर सकता हूं।

चौराहे पर वही राजस्थानी रिक्शावाला, उसने मुझे देखकर बैठी सवारी को 'फूक-कम' का बहाना लगाकर उतार दिया, वह मुझे धन्ना सेठ समझ बैठा है। मुझे भीतर-ही-भीतर शर्म का एहसास होता है। धर्म पेठ में अपने मित्र नागराज का घर ढूंढने में चक्कर-दड, वे नहीं मिले। पड़ोस की एक मास्टरानी लड़की के यहां चाय पी, वे कविताएं लिखती हैं।

'मोर भवन' में परसाई जी (हरिशंकर नहीं) मिले, आते में हाथ साने: हा-हा, आपने 'पूर्णा' मंगवाई थी। आप शाम को आएं, चर्चा करेंगे, कुछ लोगों से परिचय भी हो जाएगा।

शाम की घुमक्कड़ी। वही कल वाला रास्ता, फिर कृषि महाविद्यालय, यूनिवर्सिटी पुस्तकालय से विदर्भ साहित्य सम्मेलन में परसाई जी, कई और सज्जन। एक युवक, जो वहां बातचीत में एकदम तटस्थ था, साथ हो लिया। होटल में चाय पिलाई: मुक्तिबोध को इनमें से कोई नहीं

जानता है, मैं भी नहीं, सब दिखाने है। उन दिनों विदर्भ साहित्य सम्मेलन वालों ने उनके लिए क्या किया ? कभी मान्यता नहीं दी, लेकिन वे परवाह नहीं करते थे।

हर जगह सनसनी है। शहर में हैजा फैल गया है। लोग मर रहे हैं। मैं इसे झूठ मानने की कोशिश करता हू। शरीर में अजीब-सी अकड़न है। मैं आज तक कभी बीमार नहीं हुआ, मुझे हैजा कसे हो जाएगा ! नींद आने तक, 'काठ का सपना' पढ़ी जा सकती है।

१४-६-७० जागने पर नस-नस में दर्द, टूटन। चाय पी तो उबकाई आने-जैसी हालत। नहाने से अकड़ाहट और बढ़ गई।

शैलेन्द्रजी को मेरी विशेष प्रतीक्षा नहीं थी। पहले मैं प्रश्न करता रहा, वे सुनते रहे, फिर पत्रकारिता के विषय में संक्षेप में बताया। मुक्तिबोध पर उनके दो लेख अपने ही पत्र मे छपे थे, उनकी प्रतिलिपि वे मुझे डाक से भेज देंगे। 'नया खून' की फाईल दिखाई। अस्वस्थ होने के कारण मैं बातचीत भी ठीक तरह से नहीं कर पा रहा था। शायद मेरी बड़बड़ाहट को लक्ष्य कर एक बार तो उन्हें कहना ही पड़ा . या तो आप ही बोल लें या मुझे बोलने दें।

मैं उनका कृतज्ञ हूं—उन्होंने अपने साहबजादे को मुक्तिबोध का मका[illegible] दिखाने मेरे साथ भेज दिया। इसे संयोग ही कहिए कि जब हम जोहर[illegible] गली के नुक्कड पर सब्जीवाले से, जो मुक्तिबोध के उस मकान [illegible] वर्तमान किराएदार हैं, अपना मकान दिखाने की बात कर रहे थे, ए[illegible] नौजवान हमारे साथ लग लिया। उसने अपने अनुसार स्थिति को भा[illegible] लिया था : अरे हां, तो ये रिपोर्टर है, कोई किताब लिख रहे हैं। साह[illegible] गरीबी खा गई उस आदमी को। उसने पैसे के लिए अपनी लिखी किता[illegible] बेची, दूसरों के नाम से छपवाई।

सब्जीवाले ने, वे बहुत सज्जन पुरुष हैं, अपना मकान खोलक[illegible] दिखाया —लचर खपरैलो, अंधेरा, सीलन-भरा मकान (प्रवेशद्वार, एकद[illegible] गली में खुलता है। भीतर एक कमरे के बाद दूसरा, फिर सहन, [illegible]

रसोई। वह नौजवान बराबर बोल रहा था . अब तो हमारी हालत पहले से बहुत अच्छी है। देखो यहां (सहन में) मुनगा का एक पौधा था उन दिनों, वैसा पौधा आज तक कहीं नहीं देखा, इतना बड़ा, इतना बड़ा (उसने हाथ से ऊंचाई बताई)। टट्टी तब फ्लैश की नहीं थी। उधर रमेश, मेरा दोस्त, पतंग उड़ाया करता था।···यहां (बाहरी दरवाजे वाले कमरे में) वे (मुक्तिबोध) बैठकर लिखते थे। लीजिए, मैं बताता हूं, कैसे बैठते थे। (आसन लगाकर) ऐसे, ऐसे—हम सामने से देखते रहते थे। हम तब या आज भी इस तरह उतनी देर कभी नहीं बैठे रह सकते। यहीं वे मिलनेवालों से बातचीत करते थे।

बाहर से मकान का फोटो लिया। वह बोला : गरीबी बहुत थी। उनकी पत्नी मेरी मां से पेटीकोट, धोती, सब लेती थी, जब पहनने के लिए कुछ नहीं होता था। इतनी गरीबी थी। हमसे लेती थी चूंकि ब्राह्मण यहां हमी थे।

मैं कहां हूं, मुझे बहुत कम होश था, वरना उस मजेदार नौजवान से और बातें होतीं, उसकी मां से भी मिलता।

चक्कर-दब लॉज की ओर, जुम्मा टैंक के उस किनारे से होता हुआ, जहां कभी 'नया खून' का दफ्तर था। सारा दिन कराहते बीता। मन में यहां से भाग चलने की आ गई है, कहीं हैजा हो न हो जाए!

लड़खड़ाता हुआ बस का टिकट रिजर्व कराने। उधर से धनवाटे चैम्बर्स, उस बेखबरी में ही घूम आया। नागपुर का प्रसिद्ध चौराहा : दीखते हैं सटे हुए बड़े-बड़े अक्षरों में मुसकराते विज्ञापन—सिनेमा के, दूकानों के, रोगों के—चमकते हुए शानदार, दमकती रोशनी का उल्लास, चहकती सड़कों की साड़ियां।

चक्कर, मितली—मैं बीमार तो नहीं हूं? सुबह यहां से खिसक चलना चाहिए। कलम कांप रही है···

राजनांदगांव : १५-६-७० : सुबह सात बजे बस अड्डे पर, तबीयत में थोड़ा सुधार, लेकिन पैर ठीक तरह से नहीं पड़ रहे थे। सात की बस पौने

आठ पर चली, वह भी खटारा, भैंसागाड़ी चाल, हर स्टॉप पर रुकती-ठहरती। छोटा नागपुर के पहाड़ी जगनान—राजस्थानी ऊँट-बकरी वाले, पंजाबी सिखो का लक्कड़ व्यापार, वाल्मीकि गुहाएं, अर्धनग्न आदिवासियों—मुक्तिबोध उस रास्ते से कई बार गुजरे होंगे। देवरी के कंडक्टर को रिश्वत देकर एक्सप्रेस बदली। वह बाग नदी का एम०पी० बोर्डर पार कर फुर्र-से दो पैंतालीस पर राजनांदगांव ले आयी। यहां 'आकाश लॉज' मे ठहरा हूं। बोर्डिंग की व्यवस्था नहीं है, मगर इस कस्बे मे यही एकमात्र साफ जगह है। मैं नागपुर की घुटन से परेशान अभी तक त्रस्त अनुभव कर रहा हूं।

किसी से नहीं मिला। आज अपरिचित रहकर घूमने की सलाह थी। शाम को टहलता हुआ महल तक, मैंने उसे ही दिग्विजय कॉलेज समझ लिया था। मूसलाधार बारिश, दौड़कर 'शारदा संगीत समिति' के शेड के नीचे, वहा एक संगीतज्ञ से परिचय हुआ, मैं जानता हू तुम्हारे मुक्तिबोध को, वे मेरी बहन के टीचर थे। मेरी बहन आजकल जोधपुर मे है। वहा वह···

मुझे उसकी बहन के किस्से से कोई मतलब नहीं था। भागते-भीगते यहा लॉज तक। बुखार-सा सवार है।

मन मे एक मलाल रह गया है—नागपुर में भाऊ समर्थ से नही मिल सका, न 'सारथी' और 'नया खून' की वे फाइलें ठीक तरह से देखीं, जिनमे मुक्तिबोध की सामाजिक-राजनीतिक विचारधारा और अर्ध-साहित्यिक लेख लुके-छिपे पड़े हैं। इकतीस वर्ष की अवस्था पार करके मुक्तिबोध नागपुर गए थे, जहा उन्होंने अपने जीवन की एक लम्बी अवधि बिताई—अक्तूबर, १९४८ से जुलाई, १९५८ तक: पहले सूचना तथा प्रकाशन विभाग मे, फिर आकाशवाणी और तत्पश्चात् 'नया खून' के सम्पादन मे। उनका तत्कालीन मित्रमंडल, जो उनके नागपुरी जीवन पर प्रकाश डाल सकता है, बिखरकर इधर-उधर अवस्थित है। नई शुक्रवारी के पड़ोसी और घनिष्ठ मित्र और श्री रामकृष्ण श्रीवास्तव और 'नया खून' के संचालक

स्वामी कृष्णानंद 'सोख्ता' अब इस संसार में नहीं हैं। मुक्तिबोध पर रामकृष्ण श्रीवास्तव का एक लेख रायपुर की 'हस्ताक्षर' पत्रिका में छपा था। सोख्ताजी नागपुर की एक मानी हुई हस्ती थे, एक लोकप्रिय फक्कड़, वहां उनकी स्मृति में एक बड़े हॉल का निर्माण कराया गया है। वे मुक्तिबोध के मित्र, मालिक, संरक्षक और शोषक (?), जाने क्या-क्या थे!

१६-६-७० इस कस्बे की अपनी एक रियासती दास्तान है, जिसमें जानकारी प्राप्त करने के लिए शरद कोठारी की 'और दिग्वी मर गया' पुस्तक में पर्याप्त संकेत उपलब्ध हैं। सुबह उनसे मिलने गया तो अपनी यह छोटी-सी पुस्तक उन्होंने मुझे दे दी थी। यहां आकर मैंने इसे एक ही बैठक में पढ़ लिया। फिर *मुक्तिबोध की 'विपात्र' कहानी भी, जिसमें राजनांदगांव का परिवेश सन्निविष्ट है। नांदगांव रियासत के राजा दिग्विजय का मरण और मुक्तिबोध का यहां आगमन, एक आकस्मिक* जोड़ बैठता है; जिसका विश्लेषण किया जा सकता है।

मुक्तिबोध को राजनांदगांव लाने का श्रेय शरद कोठरी को जाता है, वे इन्हीं के प्रयत्न और सिफारिश से यहां आ सके थे, यद्यपि परिचय की भूमिका नागपुर में बन गई थी, जब कोठारी साहब वहां विद्यार्थी थे।

कोठारी साहब से मैं उनके 'सवेरा प्रेस' में मिला था। वहीं यह निश्चय किया गया कि राजनांदगांव में रहकर ही भिलाई और रायपुर से सम्पर्क रखा जाए, क्योंकि भिलाई का होटल बहुत महंगा है। और विशेष बात कोठारी साहब से नहीं हुई, उनके साप्ताहिक 'सवेरा-संकेत' के निकलने का आज व्यस्त-वार होता है। मैं चलने लगा तो वे बोले: आप बैठिए, आपके यहां होने से मैं किसी प्रकार की बाधा अनुभव नहीं कर रहा हूं। परसों जमकर बैठेंगे। वैसे आप जब भी चाहें मेरे पास आ सकते हैं, मैं यहां प्रेस में होता हूं या पास ही घर पर। कल आप भिलाई जाकर रमेश से मिल आए, उन्हें आपके इधर होने की सूचना मिल जाएगी।

शाम को निरुद्देश्य-सी चहलकदमी करता हुआ दिग्विजय कॉलेज, यह एक किले-जैसी इमारत में है। ऊंचे सिंहद्वार से भीतर जाकर

कुछ कर्मचारी दिखाई दिए। छुट्टियों के दिन हैं। मैं किसी से कुछ नहीं बोला।

दो दिन से खाना नहीं खाया था। आज गुजराती लॉज में डटकर उदरपूर्ति, उसका थकावटी आलस आराम के लिए प्रेरित करता है।

१७-६-७० : यहां से बस में दुर्ग, दुर्ग से टेम्पो में भिलाई—सेक्टर ५, जहां मर्जी आए उतरो, टेम्पो का फिक्स्ड रेट साठ पैसे प्रति सवारी।

रमेश भाई अपने क्वार्टर पर ही थे। शुरू में कुछ उदासीन, अजीब परेशानी की शिकायत, धीरे-धीरे सहृदय हम तो साहब जो भी आएगा, स्वागत करेंगे। आज इसे फर्स्ट मीटिंग समझ लीजिए, लेकिन खाना खाकर जाना पड़ेगा।

मैं अपने दोस्त की सीख याद करता हूं, वे उसे नहीं मानते : इसी तरह फेमिलियर होंगे—कुछ आप हमारी बात मानें, कुछ हम आपकी। सौम्य पत्नी, नटखट मनि और चुनमुन, मैं माताजी का पता पूछता हूं··· हां, आप उनके पास रायपुर हो आएं। सारा मेरा अपराध समझा जाता है, लेकिन···अकल की बातें मुझे बताना, मैं सुनना चाहूंगा।

मालूम हुआ कि लोग उनके यहां आते रहते हैं, अनेक प्रश्न लेकर या सिर्फ मिलने के लिए। जयपुर से जनक शर्मा आयी थी, कई दिन घर पर ही रही, वे मुक्तिबोध पर शोध कर रही हैं।

लौटने में देर हो गई। कोठारी साहब से मिला, वे व्यस्त थे। 'एक स्वप्न कथा' और 'कुछ और कविताएं' पढ़ीं। लगता है, मुक्तिबोध की कविताएं हम वहीं तक समझ सकते हैं, जहां तक हमारी साथ रहती है। उससे हटते ही, मानो अगर हम उनका साथ छोड़ देते हैं—प्रचलित छोटी कविताओं या महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि के अभ्यासी रहने के कारण, तो घिसटने की पीड़ा झेलनी पड़ती है। वे पाठक से अदम्य साहस-कौशल की मांग करती हैं—अंधेरी गुफाओं, झाड़-झखाड़ों, पहाड़ों, नदी-नालों से गुजरने का; आंधी-अंधड़, तूफानों से जोर आजमाने का—तब कहीं एक मंजिल नजर आती है, जो वस्तुतः मंजिल भी नहीं है, बस एक राह

प्राप्त होती है वहां ! यह भी कि जिसे चित्त की स्थिति कहा गया है, वह वहां नहीं मिलेगी, मगर मिलता है तो चित्त का सन्नाटा, बाना स्वाद ही स्वाद. इस विकृत करने के बाद-जैसी हालत पाते हैं, धीरे-धीरे [illegible]-सी।

१८-९-७० : कोठारी साहब से जमकर बातचीत। आज वे मूड में थे। वकील, पत्रकार, राजनैतिक, बहुधन्धी व्यक्ति हैं। उनके यहां दोपहर का भोजन करते समय मुझे अपने संकल्प के टूटने का बिल्कुल अफसोस नहीं हुआ, क्योंकि मना करने की अपनी ओर से मैंने पूरी कोशिश की थी।

जैसे हविष्य के रूप में, उन्होंने वह महत्वपूर्ण फाईल, अपना [illegible] विचारवर्द्धक साहित्य सौंपने के लिए मुझे दी, जिसमें 'नया खून' और 'सारथी' में प्रकाशित, विभिन्न नामों की ओट विभिन्न विषयों पर, मुक्तिबोध की प्रचुर लेख-सामग्री उपलब्ध है। उसे पाकर मैं निहाल, एक-एक मिनट की कीमत, लेखनी का वह सभी कमाल यहीं जारी रहा। फिर भी, 'नया खून' दीपावली विशेषांक १९५०, छद्म-नामधारी मुक्तिबोध के 'साहित्य में जनवादी मोर्चे की आवश्यकता' से लेकर दिसम्बर, १९५५ की 'एक साहित्यिक की डायरी' तक पहुंच सका। मुक्तिबोध की सामयिक विषयों पर प्रतिक्रियाएं, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों का सूक्ष्म विशद विश्लेषण, सामाजिक-राजनीतिक-साहित्यिक चिंतन-प्रक्रिया, दृष्टि-विकास का विपुल इतिहास संगृहीत है। उसे कहां तक लिखता रहता, इसलिए शेष सफर को टाइपिस्ट के हवाले कर दिया है। उसने वायदा किया है कि वह परसों तक सारा काम पूरा कर सकेगा। सोचता हूं, वह एक ऐसा खजाना है, यदि मुक्तिबोध की जगह कोई दूसरा होता, तो उसे पुस्तकाकार रूप देकर कुछ-का-कुछ बना लेता।

मानसिक शिथिलता के नशे में चूर सवेरा प्रेस पहुंचा, वहां कोठारी एक कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता से अपनी पार्टी की किसी योजना पर रहे थे। राजनांदगांव का राजनैतिक जीवन—जनसंघियों

और कम्युनिस्टों में जबरदस्त टक्कर है। शाखाओं का मुकाबला युवकदल बनाकर किया जा रहा है। 'महल' पर एक कैंप लगा हुआ है। कोठारी साहब अपनी कार में मुझे भी अपने साथ ले गए। लाल टोपीधारी युवक —शायद आस-पास की गरीबी का मात्र एकत्रीकरण—लाठी चलाने का अभ्यास कर रहे थे। कहीं ये नक्सलायिट तो नहीं बनाए जा रहे ? मैं 'महल' देखता रहा। अब वहां सरकारी दफ्तर हैं, पहले वह नांदगांव रियासत के मालिक राजा दिग्विजय का लीलाधाम रहा था। वहीं शिकार पर जाने की तैयारी के दौरान, उन्होंने खुद को गोली मारकर खत्म कर लिया था या किसी षड्यंत्र से उनकी हत्या की गई थी, इस रहस्य का विवरण 'और दिग्वी मर गया' पुस्तक में शैलीगत वैशिष्ट्य के साथ प्रस्तुत है। दिग्विजय कॉलेज—मुक्तिबोध का अंतिम कार्यक्षेत्र—इन्हीं राजा साहब की सहायता से खोला गया था, उनके किले की इमारत में। महल और किले के बीचो-बीच तालाब का सौंदर्य फैला है। उस ओर किले का वह महलनुमा पुराना भवन दिखाई देता है, जिसकी ऊपरी मंजिल में मुक्तिबोध सपरिवार रहा करते थे।

१६-६-७० : 'आप भी क्या याद करेंगे', यह कहकर प्रभु कोठारी ने मुसकराते हुए वह सम्पूर्ण सामग्री मुझे सौंप दी, जिसके आधार पर वे 'युगचेता मुक्तिबोध' नाम से एक ग्रंथ लिखना चाहते हैं, लेकिन अत्यधिक व्यस्तता के कारण उनकी यह योजना निरन्तर स्थगित होती आ रही है। कल मैंने उनसे महल की ओर जाते समय कहा था: मुक्तिबोध पर लिखने के सच्चे अधिकारी तो आप ही लोग हैं, हम तो ठगों और चोरों का व्यवसाय कर रहे हैं। हम कब तक दूसरों के अपने हो जाते हैं, यह बाद में पता चलता है, जब वे हमारे लिए अपने दरवाजे खुले छोड़ देते हैं।'

अनेक पत्र-पत्रिकाओं को विभिन्न प्रतिक्रियाएं—मैं उनसे जूझता रहा। लेटे, बैठे, बस एक ही धुन सवार है—कहीं कुछ अछूता न रह जाए। 'सवेरा-संकेत' का गट्ठर लॉज में है

स्पष्टवादी हैं। कह रहे थे 'सबेरा-संकेत' को आज जो प्रतिष्ठा प्राप्त है, मैं तो कहूंगा, उसका सारा श्रेय मुक्तिबोध को है।

मुक्तिबोध का पत्रकार-व्यक्तित्व 'हंस' के अनुभवों से लेकर 'सबेरा-संकेत' की प्रतिष्ठा तक पहुंचता है। बीच में उन्होंने 'जयहिन्द' (जबलपुर) में कुछ दिन काम किया, 'समता' (जबलपुर) के संपादन में प्रमुख योग दिया और 'नया खून' (नागपुर) के स्वामी कृष्णानन्द सोख्ता ने तो अपना पत्र पूर्णतः उन्हीं को सौंप दिया था। 'सारथी' (नागपुर) में भी वे साहित्यिक और गैर-साहित्यिक लेख बराबर लिखते रहे थे। 'नयी दिशा', 'संस्कार', 'वसुधा' आदि पत्रिकाओं के सम्पादन में मुक्तिबोध ने अपने सुझाव और सहयोग मुफ्त में प्रदान किए थे।

वह लिखती है—'नई जगह, नये लोग, समय आसानी से कट रहा होगा।' लेकिन उसे क्या पता, और उसे क्या मतलब कि यहां थककर आ रहे हैं, नाखून काटने तक की फुरसत नहीं। तुम वहां समर इन्स्टीट्यूट में थक गई हो, शहतीर उठाने पड़े होंगे! क्या कमबख्त चाहने वाला ही ये नाज़-ओ-अदा सिखा देता है? मुझे नहीं मालूम।

थोड़ा-सा घूमने का अवसर जरूर निकाल लेना चाहिए। कहीं फिर बीमार न पड़ जाऊं—इस प्रेरणा से, और मुक्तिबोध के छात्र प्रकाशजी आ गए थे, इसलिए उधर मिल्स एरिया की तरफ—सांझ का काला-धौलापन, मटमैला जन-समाज। हर जगह के सांझ-सबेरों का अपना अलग-अलग रंग-रूप होता है। लेबर कॉलोनी में वह कमरा देखा, जहां मुक्तिबोध को अपने बीमार पुत्र को रखने की अस्थायी व्यवस्था करनी पड़ी थी। मुक्तिबोध को लेकर प्रकाश दूर तक बात नहीं कर सकता। वह अपने काम से काम रखने वाले व्यक्तियों में से है। फिर भी, उसका साथ अच्छा रहा। उसने बताया: वे ज्यादा किसी को मुंह नहीं लगाते थे। लड़कियों तक को, यदि वे क्लास में एटेंटिव नहीं रहती थीं, बाहर निकाल देते थे। और लोग उनका लिहाज रखते हैं। आपने किसी लड़की से प्यार किया है? मैंने कहा: पहले तुम अपनी सुनाओ। उसने एक

मनोरंजक आपबीती सुनाई और उसी मे रात हो गई।

ऐसी गोलियों का ईजाद हम क्यों नहीं कर पाए हैं, जिन्हें निगलकर थकावट से सज्ञात मिल सके? और लडकियो से⋯

२०-६-७० : कोठारी साहब के यहा—घर पर, उनके दफ्तर मे कुछ सामग्री लौटाई, जिससे कल पीछा छुड़ा लिया था। यही मुक्तिबोध के प्रिय छात्र बलवीर खनूजा से परिचय, उनके साथ घूमने का प्रोग्राम, वे कई पत्रों के प्रतिनिधि हैं और स्वय को पत्रकारिता की ओर ले जाने की आकाक्षा रखते है।

बलवीर खनूजा के साथ दिग्विजय कॉलेज की ओर, रास्ते मे उनकी बातों के टूटते-जुड़ते सूत्र—सर जी से हम बहुत प्रभावित थे।⋯क्लास मे उनसे यह बिलकुल सहन नहीं होता था कि वे बोलते जाए और आप गुमसुम सुनते रहें। कहते थे, लिखो भई, लिखो।

शहर की प्रतिष्ठित बस्ती, फिर मुख्य बाजार, आगे कॉलेज तक हरिजन मुहल्ला, गरीब घर-झोपड़े। मैं चाहता था कि बलवीर मुझसे खुलकर बातें करे, बीच मे कोई परदा न रह जाए।

⋯मैं अपने कॉलेज की विद्यार्थी परिषद का प्रधान था। एक बार स्ट्राइक की नौबत आ गई। वे बहुत हसीन, तूफानी दिन थे। शुक्लाजी का भयकर रौब था, लेकिन हम डटे रहे। सर जी ने हमें बुलाया। पूछा तुम्हीं बताओ, वर्तमान समस्या के कारण क्या है, उसके लिए क्या समाधान जरूरी हैं और हमारा उत्तरदायित्व क्या होना चाहिए? तुम्हें पूरा-पूरा अधिकार है, हमें अपना सहयोगी मानकर चलो। आखिर यह भी एक तरीका था, वरना डाट-डपट और सज़ाओ का मुकाबला करने के लिए तो हम तैयार थे ही।

कॉलेज के सिंहद्वार के सामने, बाहर कई विशाल पीपल-वृक्ष खड़े है, उनके नीचे से गुजरकर एक रास्ता भीतर आता है। रास्ते के दोनो ओर पानी की दो भुजाओ का घिराव नजर आता है। भीतर जाकर देखा—पूरी इमारत के क्षेत्र को तालाब ने अपने आलिगन मे समेटा हुआ

।···यहां बहुत स्वस्थ वातावरण रहा है। स्टाफ में विचित्र सद्भाव, सा सभी जगह नहीं पाया जाता—एक-दूसरे के लिए तत्पर। मैंने छा—कोई झगड़ा कभी नहीं हुआ? उसने कहा—बिलकुल नहीं। एक ो उन दिनों शुक्लाजी का दबदबा बहुत था, दूसरे सभी प्रोफेसर बहुत ले थे। हां, बहस खब होती थी। सरजी के बारे में सुनते थे, अगर उनका ीरियड खाली है, तो कई लोग स्टाफ-रूम में जाते हुए झिझकते थे। उन्हें र-सा रहता था कि कहीं वे बहस न छेड़ बैठें। वे उनके विषय पर ही ात करते थे, लेकिन एकदम नई-ताजी, जिससे शायद उनका परिचय न हुआ होता होगा।

नागपुर से राजनांदगांव आकर मुक्तिबोध पहले बसंतपुर में रहे थे। साइकिल पर जाकर हमने वह जगह देखी। बसंतपुर का शांत वातावरण, वहां का प्राकृतिक सौंदर्य उनके मनोनुकूल रहा होगा। फिर उन्हें कॉलिज में ही मकान मिल गया था।

हम उस रास्ते से वापस आए, जिसके बायीं ओर अस्पताल की पीली दीवार चली गई है। उसके बाद छोटे-छोटे मकान, छोटे-छोटे घर— मिट्टी के घर—बने हुए हैं। दायीं ओर खुला मैदान है, जिसमें इमली और नीम के पेड़ों के अलावा छोटे-छोटे खेत भी हैं। सुनते हैं, मुक्तिबोध के आर्थिक कष्ट असहनीय थे, अनेक रोग उनके पीछे लगे रहे, तुमने कभी उन्हें उद्विग्न अवस्था में पाया था? बलवीर बहुत समझदार है। उसने बताया · दस एक बार, जिन दिनों उनकी पुस्तक 'भारत : इतिहास और संस्कृति' पर मध्यप्रदेश सरकार ने पाबंदी लगाई थी। पुस्तक पर जो आरोप लगाए गए थे, पाबंदी लगाने से पहले सरजी से कुछ नहीं पूछा गया, इसीलिए उन्हें उतना दुःख हुआ था, वरना राजनांदगांव में वे बहुत सुखी थे और अगर यह मूर्खता न की गई होती तो शायद उनका जीवन और बेहतर हो जाता। उन्हें पैसे की तंगी जरूर रही होगी, घर में बीमारियों का प्रकोप भी था, मगर उनकी मस्ती में इनका हस्तक्षेप कम ही दिखाई देता था। हमने तो कभी ही उनके चेहरे को उदास पाया होगा, अगर गंभीरता

मन की गति नहीं थी। फक्कड़ जाति के लोग इसे बहुत बड़ी आध्यात्मिकता घोषित करते हैं, लेकिन इसी ने मुक्तिबोध को दुर्गति में धकेले रखा, उबरने नहीं दिया। उनकी गति बुरी नहीं थी, फिर भी उनकी बड़ी दुर्गति हुई—मुक्ति उन्हें बहुत महंगी पड़ी। इधर खुदा के बन्दे जीते-जी स्वर्गीय जीवन के ठाठ भोग रहे हैं—मुक्ति के रास्ते आज कितने सस्ते हो गए हैं!

वैज्ञानिक अवलोकन ही अपेक्षित है। तटस्थ बने रहने का, अपने ऊपर रागात्मक भाव को हावी न होने देने का व्यवसाय कठिन साधना-जैसा है। मुक्तिबोध की जीवन-धारा का यथासंभव, यथातथ्य और यथाक्रम विवरण, उसकी आन्तरिक गति-लय का स्वाभाविक प्रस्फुटन, न कि उसमें अपना स्वर मिलाने की अनाधिकार चेष्टा, अन्यथा उसके बेसुरा होने की पूरी-पूरी आशंका है।

२२-६-७० ग्यारह बजे हैं। अभी-अभी भिलाई से लौटा हूं। सुबह रमेश भाई नहीं मिले थे, वे अपने काम पर गए हुए थे और उनकी पत्नी अपने स्कूल। उड़िया बाई ने संकेत से समझाया कि उन लोगों की अनुपस्थिति में मैं आपको यहां कोई सत्कार नहीं दे सकूंगी। तीन बजे दोबारा पहुंचा तो पहले उनका वही उदासीन व्यवहार, जिसे सभ्य भाषा में औपचारिक कहते हैं। फिर कुछ मूड में चाय पिलाकर कविताओं की पाण्डुलिपियां मुझे सौंप दीं, आप दूसरा काम करने लगे, बीच-बीच में इधर-उधर की बातचीत। उनका बड़ा बच्चा मनि हमारे दरम्यानी फासले को कम करने में काफी सहायक रहा।

पता चला कि 'चांद का मुंह टेढ़ा है' में संकलित कविताओं का वास्तविक चुनाव स्वयं मुक्तिबोध द्वारा चुनी हुई विशिष्ट रचनाओं में से किया गया था। जिन दिनों वे भोपाल के हमीदिया अस्पताल में थे, अपनी उन विशिष्ट रचनाओं को ले आने के लिए उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र रमेश मुक्तिबोध को राजनांदगांव भेजा था। फिर वे श्रीकान्त वर्मा को सौंप दी गई थीं और उन्होंने अशोक वाजपेयी की सहायता से संकलन के लिए

को उदासी का पर्याय न मानें तो। जिस ठाट से वे मिलते थे, बातें करते थे और बीच-बीच में खिलखिलाकर, कहकहे लगाकर उनका हंसना कोई अन्तरंग भी नहीं जान सकता था कि यह आदमी कहीं भीतर से दुःखी है या टूटा हुआ है. हम तो खैर उनके विद्यार्थी थे।

दुर्ग : २१-६-७० आकाश नींद से सुबह से लगकर पांच-छह घंटे तक फाइलों का काम निपटाया। राजनादगांव के कुछ लोगों से मिलना और बाकी है, किसी भी दिन वहां हो आऊंगा। यहां आकर राहुल-सी मिली, यद्यपि पुरोहित लॉज अवेधानक महंगा है। कल रमेश भाई से मुलाकात होनी चाहिए। आज का बाकी दिन आराम से सोचने-सोचते···और कुछ कविताएं पढ़ीं।

एक दर्द जिन्दगी की देह के साथ जुड़ा है, जिसको टीस मन भी भुगतता है; एक दर्द देह से हटकर, मन में बनता है, जिसका भोग केवल मानसिक होता है। आधुनिक जटिलता का तनाव कहां सार्थक है? एक आदमी, जो खाना-पीता है, लेकिन उसके भीतर का मानव उससे अधिक की मांग करता है, एक भीतरी भूख उसे असन्तुष्ट रखती है, बाहर से उसकी पूर्ति नहीं हो पाती, ऐसी जो कि उसकी भीतरी आकांक्षा के अनुकूल हो, तब उसे बाहर से अलगाव की अनुभूति सताती है, यह टूटन-सी उसके भीतर दर्द भर देती है, वह एक विशिष्ट अभाव को भोगता रहता है। दूसरा आदमी, जो आटे-दाल से ग्रस्त है और उपरोक्त व्यक्ति की टूटन को, वैसे ही उसके दर्द को भी झेलता है, वह दोहरा दर्द पालता है या वह उसके भीतर पलता है और वह दो पाटों के बीच में पिसता रहता है! निष्कर्ष यह कि—झूठे दर्द के गायकों को छोड़ दीजिए—यदि दोनों ही सच्चे हैं, तो गहराई निचले भाग में मिलेगी।

वह अपनी नियति से परिचित था। उसने अधूरा जीवन जिया, यह उसकी कोशिश नहीं थी, बल्कि जीवन को सुखी-सम्पन्न बनाने की उसमें असीम लालसा रही थी, जिसे प्राप्त करने के लिए उसका अन्दाज दूसरा था, अन्यथा उसे वह हथियाने के चक्कर में कभी नहीं पड़ा, उधर उसके

मन की गति नहीं थी। फक्कड़ जाति के लोग इसे बहुत बड़ी आध्यात्मिकता घोषित करते हैं, लेकिन इसी ने मुक्तिबोध को दुर्गति में धकेले रखा, उबरने नहीं दिया। उनकी गति बुरी नहीं थी, फिर भी उनकी बड़ी दुर्गति हुई—मुक्ति उन्हें बहुत महंगी पड़ी। इधर खुदा के बन्दे जीते-जी स्वर्गीय जीवन के ठाठ भोग रहे हैं—मुक्ति के रास्ते आज कितने सस्ते हो गए हैं!

वैज्ञानिक अवलोकन ही अपेक्षित है। तटस्थ बने रहने का, अपने ऊपर रागात्मक भाव को हावी न होने देने का व्यवसाय कठिन साधना-जैसा है। मुक्तिबोध की जीवन-धारा का यथासंभव, यथातथ्य और यथाक्रम विवरण, उसकी आन्तरिक गति-लय का स्वाभाविक प्रस्फुटन, न कि उसमें अपना स्वर मिलाने की अनाधिकार चेष्टा, अन्यथा उसके बेसुरा होने की पूरी-पूरी आशंका है।

२२-६-७० : ग्यारह बजे हैं। अभी-अभी भिलाई से लौटा हूं। सुबह रमेश भाई नहीं मिले थे, वे अपने काम पर गए हुए थे और उनकी पत्नी अपने स्कूल। उड़िया बाई ने संकेत से समझाया कि उन लोगों की अनुपस्थिति में मैं आपको यहां कोई सत्कार नहीं दे सकूंगी। तीन बजे दोबारा पहुंचा तो पहले उनका वही उदासीन व्यवहार, जिसे सभ्य भाषा में औपचारिक कहते हैं। फिर कुछ मूड में चाय पिलाकर कविताओं की पाण्डुलिपियां मुझे सौंप दीं, आप दूसरा काम करने लगे, बीच-बीच में इधर-उधर की बातचीत। उनका बड़ा बच्चा मनि हमारे दरम्यानी फासले को कम करने में काफी सहायक रहा।

पता चला कि 'चांद का मुंह टेढ़ा है' में संकलित कविताओं का वास्तविक चुनाव स्वयं मुक्तिबोध द्वारा चुनी हुई विशिष्ट रचनाओं में से किया गया था। जिन दिनों वे भोपाल के हमीदिया अस्पताल में थे, अपनी उन विशिष्ट रचनाओं को ले आने के लिए उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र रमेश मुक्तिबोध को राजनादगांव भेजा था। फिर वे श्रीकान्त वर्मा को सौंप दी गई थीं और उन्होंने अशोक वाजपेयी की सहायता से संकलन के लिए

कविताओं को छांट लिया था। संकलित कविताओं का रचनाकाल १९५० से १९६३ तक फैला हुआ है और उनमें से थोड़ी कविताओं का प्रकाशन पत्रिकाओं तथा साहित्यिक संकलनों के माध्यम से पहले ही हो चुका था। प्रस्तुत संग्रह के अतिरिक्त इकसठ असंगृहीत कविताओं का चयन अभी तक संभव हो सका है, उनमें से भी कतिपय कविताएं इधर-उधर प्रकाशन में आ चुकी हैं। असंगृहीत कविताओं के पूरे प्रारूप रमेश मुक्तिबोध के यहां सुरक्षित हैं और वे डॉ० गंगाप्रसाद विमल (दिल्ली) के पास संकलन के रूप में प्रकाशन के लिए प्रस्तावित हैं। उनके पास जाकर मैं उनकी कॉपी करूंगा, उनके अनुमानित रचनाकाल और निश्चित प्रकाशन-काल का विवरण प्राप्त कर लिया है।

मुक्तिबोध की प्रारम्भिक कविताओं का ऐतिहासिक महत्त्व हो सकता है, उनके माध्यम से कवि की संवेदना और शिल्पगत विकास को समझने में सहायता ली जा सकती है। रमेश मुक्तिबोध के यहां ऐसी तीन कॉपियां हैं (स्वयं मुक्तिबोध के हाथ से लिखी हुई), जिनमें सन् १९४० से पहले की कविताएं—प्रकाशित, अप्रकाशित और रचना-तिथि के विवरण सहित—लिखी हुई हैं।

२३-६-७० : जब से इधर बारिश शुरू हुई है गर्मी का प्रकोप उतना नहीं रह गया है, वरना रमेश भाई कह रहे थे कि सुबह दस के बाद आप घर से बाहर नहीं निकल सकते थे। दुर्ग से भिलाई, उनके क्वार्टर तक पहुंचने में अधिक से अधिक आधा घंटा लगता है, टैम्पो हर समय तैयार मिलते हैं। सुबह सात बजे से लेकर रात के नौ बजे तक वहीं रहा, कल का बाकी कविताओं का काम समाप्त किया, फिर कहानियां निपटाईं, कुछ काम अपने साथ ले आया हूं।

'काठ का सपना' में संगृहीत ग्यारह कहानियों का रचनाकाल अनुमानतः बीस वर्षों में फैला हुआ है और वे सभी यत्र-तत्र प्रकाश में आ चुकी हैं। संग्रह की सबसे पुरानी कहानी 'मोह और मरण' है, जो 'वीणा' के जनवरी, १९४० के अंक में पहली बार छपी थी। 'जंक्शन' तथा

'विपात्र' कहानियां मुक्तिबोध की मृत्यु के उपरान्त 'ज्ञानोदय' में प्रकाशित हुई।

जहां तक मालूम हो सका है, मुक्तिबोध की असगृहीत कहानियों की संख्या कुल नौ है—पांच प्रकाशित और चार अप्रकाशित। प्रकाशित कहानियों में से 'मानवीय पशुता' ही मुक्तिबोध के जीवन-काल में 'वीणा' के अक्तूबर, १९३८ के अंक में छप सकी थी, शेष उनकी मृत्यु के बाद प्रकाश में आयीं। अप्रकाशित कहानियां शीर्षक-विहीन हैं। सगृहीत और असगृहीत थोड़ी-सी कहानियों के आधार पर हिन्दी के कथा-कोश में मुक्तिबोध के ठोस योगदान की बात निस्सदेह महत्त्वपूर्ण है।

एक और तथ्य का पता चला। 'विपात्र' कहानी का अन्तिम अंश अभी तक अप्रकाशित है। उस अप्रकाशित अंश को मिलाकर 'विपात्र' का आकार उपन्यास-जितना हो जाएगा!

२४-६-७० : लिखते-लिखते अंगूठे की बराबर वाली अंगुली में गहरा निशान पड़ गया है। मुक्तिबोध की प्रायः सभी हस्तलिखित प्रतियों का सग्रह अत्यधिक अस्त-व्यस्त अवस्था में रमेश के पास सुरक्षित है। उनमें जूझते समय विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता अनुभव होने लगती है। इस क्षेत्र में रमेश भाई के प्रयास की सराहना करनी पड़ती है, यद्यपि वे विज्ञान के विद्यार्थी रहे हैं। मैं तो उनका बहुत ही आभारी हूं। उनकी एक आदत है—या तो वे काम पर जुटते ही नहीं, अगर एक बार जुट पड़ते हैं तो फिर उसे निपटाकर ही सांस लेते हैं। कितनी मेहनत उन्होंने नहीं की है? आश्चर्यजनक बात है कि वे कागजों और स्याहियों का रंग, लिखाई का रुख आदि देखकर पाण्डुलिपियों का रचनाकाल पहचान लेते हैं। अपने इसी कौशल के आधार पर उन्होंने बिखराव को समेटने में पर्याप्त सफलता प्राप्त कर ली है।

आज मैं अप्रकाशित निबन्धों को ही देखता रहा। 'नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध' पुस्तक के अलावा [illegible] और निबन्ध प्रकाश में आ चुके हैं। कई शीर्षक-विहीन निबन्धों से मैंने नोट्स लिए, कि

पुस्तक-समीक्षाओं का काम किया।

२५-६-७० : रायपुर के दैनिक 'नई दुनिया' में एक समाचार छपा है—मुक्तिबोध पर शोध : हिन्दी के महान साहित्यकार स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध के साहित्य पर दिल्ली के ''शोधकर्ता श्रीवर्मा विगत कुछ दिनों से नगर में हैं। मुक्तिबोध के जीवन व साहित्य-सम्बन्धी सामग्री एकत्र करने के लिए उन्होंने मुक्तिबोध जी के निकटतम साथी श्री शरद कोठारी तथा मुक्तिबोध जी के पुत्र रमेश मुक्तिबोध तथा पत्नी शांता मुक्तिबोध से सम्पर्क स्थापित कर पर्याप्त सामग्री प्राप्त कर ली है। एक भेंट में श्रीवर्मा ने हमारे प्रतिनिधि को बताया कि ''।' मैंने कोई खास बात उसे नहीं बताई थी।

विज्ञान महाविद्यालय (रायपुर) के कैम्पस में प्रमोद वर्मा का मकान ढूंढ़ा, वे बाहर गए हुए थे। श्रीमती मुक्तिबोध से मिलने तिलो चौक की ओर, रास्ते में मन जाने कैसा-कैसा हो आया था। घर के बाहर दरवाज़े पर एक युवक मिला, स्वस्थ, सुन्दर और स्फूर्तिमय। वह दिवाकर था, मुक्तिबोध का लाड़ला बेटा। मेरे साथ जीना चढ़ते समय उसने कई बार आदरपूर्वक 'आइए साहब, आइए' कहकर अगवानी-सी की, जिससे मेरी आधी झिझक वहीं दूर हो गई।

दिवाकर बाहर के कमरे में मुझे बिठाकर खुद बाहर चला गया : आपको तो माता जी से मिलना होगा, तब तक मैं एक काम हो आता हूं।

श्रीमती शान्ता मुक्तिबोध से देर तक बातचीत, वे मुक्त भाव से बोलना चाहती हैं, जिसमें उनकी गहरी विनयशीलता जुड़ी रहती है। जहां कहीं वे स्पष्ट नहीं हो पाती हैं, वहीं निस्संकोच उन्हें अपना मंतव्य दोहराना पड़ता है : इस बारे में आप मुझसे अभी न पूछें, मैं फिर कभी आपको लिखूंगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने ज़िम्मेदारी को पूरी तरह अपना लिया है, अपने बच्चों के भविष्य के प्रति बहुत सजग-सावधान किन्तु साथ ही बहुत चिन्तित रहती हैं। मुझे उनकी स्मृतियों को कुरेदने का उतना साहस नहीं हुआ, चूंकि मेरे यह बताने पर ही उनकी आंखें छलछला आयी थीं कि

मैं मुक्तिबोध के जीवन का इतिहास ढूंढता घूम रहा हूं।

हमारी परम्परा यह रही है कि जीवन में जो सहने के लिए घटित होता है, उसे हम विशेष अवसर पर सिर्फ कह-सुन लेते हैं, उसका रहस्य भी जान लेते हैं, लेकिन हमारी 'शालीनता' उसके सामान्यीकरण पर प्रतिबन्ध लगा देती है। इसीलिए शांताजी की बातों में से मैं तथ्यपरक विवरण प्रस्तुत करना ही उचित समझूंगा—

महू की छावनी में पिताजी शिरेस्तेदार थे। उनके देहान्त के बाद हमें बड़ी बहन का संरक्षण मिला। हम इन्दौर चले गए। माताजी भी साथ थीं। वहीं हमारा परिचय हुआ। तब मैं बहुत छोटी थी, सिर्फ चौदह साल की। वे कविताएं लिखा करते थे। यहां की और बातों में विशेष कुछ नहीं है।

पहली बार जब वे शुजालपुर में थे, तब तक हमारा विवाह नहीं हुआ था। दोबारा गए, तब मैं भी उनके साथ चली गई थी। वहां बहुत अच्छा वातावरण था। डॉ० जोशी एक आदर्श व्यक्ति थे। नेमिजी, रेखा और मुन्नू के साथ हमारा एक कुटुम्ब-जैसा सम्बन्ध हो गया था। नेमिजी तो वे मुझसे भी ज्यादा प्यार करते थे। वे बहुत उमंग के दिन थे। वे लोग दिनभर पढ़ते-लिखते रहते, लम्बी-लम्बी बहसों में उन्हें घंटों बीत जाते। उज्जैन से माचवेजी, भोपाल से लीलाधर जोशी और भारत-भूषण अग्रवाल वहां हमारे पास आते रहते थे। तब एक अपूर्व उत्साह उन सब मित्रों को घेर लेता था।

फिर सब बिखर गया। हम उज्जैन चले गए। बनारस जाने से पहले बम्बई और कलकत्ता भी गए थे। वायु-सेना में भर्ती के सिलसिले में वे शायद कोई चार महीने तक रहे होंगे। वे कहा करते थे—मैं सरकारी नौकरी नहीं करूंगा।

'हंस' के सम्पादक मंडल में उनके बनारस पहुंचने का योग बना था, इस बारे में कोई मेरी जानकारी नहीं है। वहां मैं उनके साथ हो गई थी। रमेश के किसी हाई स्कूल का वहां होना। वहां शुरू के कुछ दिन हम जगमबाड़ी

के ऑफिस में ही रहे, फिर विवेकानन्द आश्रम के पास कोई लक्षा नामक जगह थी, जहां हमने मकान ले लिया था। मुझे याद है, हम जिस गली में रहते थे, उसके नुक्कड़ पर एक बड़ा पीपल का वृक्ष था। श्री जगशंकर दत्त और श्री गोविन्दप्रसाद अग्रवाल उनके दोस्तों में से थे। अग्रवाल साहब तो शायद सरस्वती प्रेस के मैनेजर थे। वहां रमेश बहुत बीमार रहा। वे सामान जुटाने की धुन में लगे रहते थे।

बनारस छोड़ने का कारण भी मुझे मालूम नहीं है। मैं उस बारे में कोई चिन्ता नहीं करती थी। उनके बारे में मेरा विश्वास था कि वे जहां भी जाएंगे किसी-न-किसी काम की व्यवस्था कर ही लेंगे। गोविन्दप्रसाद अग्रवाल ने भी उनके आगे-पीछे बनारस छोड़ दिया था।

जबलपुर में हम पहले अग्रवाल साहब की मौसी के घर कमानिया गेट पर रहे। दो महीने बेकारी में बीते, कोई काम नहीं मिला। जैन स्कूल में नौकरी मिलने पर नेपियर टाउन में घर ले लिया। वहां के उनके मित्रों में एक देशपाण्डे थे, जो अध्यापक थे। बसंत पुराणिक के साथ 'समता' के संपादन की बात तो शरद भाई ने आपको बता ही दी होगी। शरद भाई मराठी स्कूल में थे।

और आगे का किस्सा तो आपको मालूम ही है। नागपुर के उनके दोस्तों से सब बातों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। जबलपुर में आप अग्रवाल साहब से जरूर मिलें। हमारे मिलने वालों से कहें कि चिट्ठी तो लिख दिया करें। बहुत याद आती है। मैं तो यहां से कहीं जाने की स्थिति में हूं नहीं। अवसर मिला तो एक बार दिल्ली जाने का इरादा जरूर है। नागपुर में एक लड़की थी, वह शायद आजकल वहीं हो। आप उनसे मिले?

…मुझे उसके बारे में विशेष जानकारी नहीं है। उसका नाम टैम्बोर निबर था। एकाध बार ही मैं उससे मिली थी। वे उससे बहुत प्रभावित थे। वह बड़ा नौकरी करती थी। वे कहा करते थे—कितनी प्रतिभाशाली लड़की है और साथ ही आत्मनिर्भर।

उनके जीते-जी मैं निश्चिंत थी, उनका विश्वास ही मेरा सब-कुछ था। उनकी महानता का सारा श्रेय आप उनके माता-पिता को ही दें। हमारे ससुर को आज भी उज्जैन में आदर के साथ याद किया जाता है।

मैं उन्हें शुरू से ही महान मानती थी। मुझे यह कभी नहीं लगा कि वे प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं हैं। सुनती थी कि उन्हें जितनी प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए, वह नहीं मिली है। इस बारे में वे ज्यादा नहीं सोचते थे। बात चल पड़ती थी तो कभी मेरे मुंह से निकल जाता था कि वे अपनी उन्नति की क्यों नहीं सोचते हैं। ऐसी बातें सुनकर उन्हें झुंझलाहट होती थी। वैसे अपनी प्रशंसा सभी को अच्छी लगती है, लेकिन वे खुद उसके लिए चुप रहते थे। एक बार किसी अंग्रेजी की पत्रिका में उनके बारे में कुछ छपा था। वे उस पत्रिका को मुझे दिखाते रहे देखो हमारी कदर हो रही है, हिन्दी में क्या अंग्रेजी में !

मैं समझता हूं कि माताजी अपने बाल-बच्चों के संसार में सुखी हैं। असन्तोष का भाव उनके मन में नहीं है, बल्कि जीवन का अटूट उत्साह ही वहां से प्रकट होता है। उनके यहां मुझे ऐसा लगता रहा जैसे मैं अपने घर पर ही हूं।

बहुत देर हो गई थी। प्रमोद वर्मा अपने किसी दोस्त के संग लड़कों की नाफ़िदगियों और निकम्मेपन पर चुटीली चर्चाओं में लगे थे। थोड़ी देर बाद वे मेरी तरफ मुखातिब हुए। रूपरेखा देखी और मुझे शाबासी दी: दरअसल हमें प्रतिभाशाली विद्यार्थियों की उतनी जरूरत नहीं है, जितनी परिश्रमियों की, जो तुम्हारी तरह भाग-दौड़ कर सकें। (सचमुच मुझे अपने प्रतिभाशाली न होने का खेद नहीं होना चाहिए) अब देर हो गई है, कल। परसों, तरसों, जब जी में आए चले आओ, मैं तो यहीं होता हूं। चार-पांच घंटे साथ बैठना पड़ेगा।

कल रोहिणीकुमार चौबे से मिलना है। उनका पता प्रमोद वर्मा ने दिया है। वे कह रहे थे—चौबेजी ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं, जिनसे तुम मुक्तिबोध के बनारस से लेकर नागपुर तक के पार्टी जीवन का सही-सही

हाल मालूम कर सकते हो।

२६-६-७० . चौबेजी से सफल भेंट-वार्ता, वे अपने घर पर ही मिल गए थे। आजकल वे दुर्ग के नेशनल हाई स्कूल में अध्यापक हैं, किन्तु एक लम्बी अवधि तक उनका सक्रिय सम्पर्क कम्युनिस्ट पार्टी की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष गतिविधियों के साथ रहा था।

बाकी सारा दिन अपना काम करता रहा। नागपुर जाने से पहले रमेश भाई मुझे काफी कच्चा माल दे गए थे, उसे निपटाने में ही रात हो गई।

अजीब गोरखधन्धा है। मध्य-प्रदेश सरकार ने मुक्तिबोध के 'भारत: इतिहास और संस्कृति' ग्रन्थ पर पाबन्दी लगा दी थी। राज-पत्र के असाधारण अंक में इस सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि वह पुस्तक 'भद्रता तथा नैतिकता के विरुद्ध है'। प्रकाशक ने इसके प्रतिवाद में हाई कोर्ट तक मुकदमा लड़ा था, लेकिन कहीं कोई न्याय नहीं हुआ, अलबत्ता कथित आपत्तिजनक अनुच्छेदों को छोड़कर पुस्तक के पुनः प्रकाशन की अनुमति दे दी गई थी। एक फाईल में मुकदमे के कागजात और पत्र-पत्रिकाओं की प्रतिक्रियाओं को देख-पढ़कर तत्कालीन व्यवस्था के प्रति तीव्र आक्रोश का भाव पैदा होता है। अठारह लम्बे पृष्ठों की अपनी प्रतिक्रिया (क्या वह मात्र प्रतिक्रिया है?) के अन्त में मुक्तिबोध लिखते हैं: मेरी पुस्तक पर इस तरह जो पाबन्दी लगा दी गई है, उससे यह सिद्ध होता है कि मध्य-प्रदेश में जनतन्त्रवादी प्रगतिशील शक्तियां बहुत कमजोर हैं। यद्यपि विभिन्न पत्रों में मेरे अनुकूल आलोचनाएं और प्रतिक्रियाएं प्रकाशित हुईं, उनके सामने मध्य-प्रदेश सरकार झुकी नहीं, वह सम्प्रदायवादियों के सामने झुकी। इसका मतलब यह है कि मध्य-प्रदेश में लेखकों की स्वाधीनता खतरे में है।

शोभिमा पांडे का काम बहुत आकर्षक लगा। उन्होंने जबलपुर विश्व-विद्यालय की बी. एड. परीक्षा के लिए 'प्रगतिवादी दीप: मुक्तिबोध' नाम ` एक एलबम-पत्रिका बनाकर प्रस्तुत की थी। वह अब रमेश मुक्तिबोध ,, है।

२१.६.७० : परेशानहाल राजनादगांव से लौटा हूं। कोठारी साहब कहीं शादी में बाहर गए हुए हैं, घर पर रावी को छोड़कर कोई नहीं मिला। पता नहीं एम० ओ० आया है या नहीं। बलबीर खन्ना से भेंट हुई पर वे अपने काम में लगे थे। जो भी है, चलिए अध्ययन ही सही। 'भारतः इतिहास और संस्कृति' पढ़ी, कुछ नोट्स लिए।

एक खयाल अभी-अभी भीतर से उठ रहा है—मुक्तिबोध के साथ जिसने भलाई की, यदि कोई निश्छल भाव से उनका सहायक हुआ हो, तो वे अत्यधिक कृतज्ञता अनुभव करते थे। उसके दूसरे दोषों को साफ-साफ उजागर हो जाने पर भी, अनदेखा कर जाते थे। मैं उनके प्रत्यक्ष व्यवहार को ध्यान में रखकर ही यह बात कह रहा हूं, अन्यथा अपने लेखन में वे इस तरह का लिहाज नहीं बरतते थे। यह उनकी दुर्बलता नहीं, अपनी परिस्थितियों के साथ समझौता था। वैसा न करते तो वे बर्बाद हो गए होते। सम्भव है, बहुत बार वे उन्हें नापसन्द करते हों, किन्तु अपने प्रति निष्कपट उपकार को वे भूलते नहीं थे। यही वजह है कि कई बार ओछेपन के विरुद्ध वे मौन रह जाते थे।

२८-६-७० : अप्रत्याशित काम हुआ। आज रमेश भाई ने मुझे वह फाईल भी दिखाई, जिसे वे नितान्त व्यक्तिगत समझते हैं। दिवगत पिता के सम्बन्ध में उनकी प्रतिक्रियाओं को जानने की मैंने कभी अनधिकार चेष्टा नहीं की थी। आत्मीय क्षणों में यदि मैं कुछ पूछने का साहस कर बैठता था तो वे अपना वही वाक्य दोहरा देते थे : मैं उन्हें एक आदर्श पिता के रूप में जानता हूं, और बस। मेरा प्रारम्भिक जीवन दादा-दादी के साथ उज्जैन में बीता था। नागपुर से ही मैं पिताजी के साथ रहा हूं।

उनकी श्रीमती प्रवलाजी हद दर्जे की शरमीला हैं। दिग्विजय कॉलिज में वे मुक्तिबोध की शिष्या रही थीं, लेकिन अपने गुरु के सम्बन्ध में वे एक शब्द नहीं बता सकतीं—'नहीं-नहीं, मुझे नहीं कुछ पता। मैं तो बस कॉलिज जाती थी, चली आती थी।' रमेश भाई के साथ उनका गठबन्धन मुक्तिबोध के बाद की कहानी है।

निस्सन्देह उनके एहसान को मैं कभी नहीं भूल सकूंगा। उनके यहां से मुझे जीवन और लेखन सम्बन्धी इतनी सामग्री मिल गई है कि अब दूसरी जगह भटकने की कम ही जरूरत रह जाती है। उनका व्यवहार बहुत ही सहृदयतापूर्ण रहा। चलती बार उन्होंने भविष्य में हर प्रकार के सहयोग का आश्वासन भी दिया। उनके दिल्ली आने का मुझे बेहद इन्तज़ार रहेगा।

रायपुर : २९-६-७० : कुल मिलाकर आज का दिन अच्छा रहा। राजनांदगांव गया, वहां कोठारी साहब मिले, एम० ओ० भी आ गया था।

बलबीर खनूजा के साथ दिग्विजय कॉलेज, वहां प्राचार्य कनोजे साहब से मिलना था। श्री मेघनाथ कनोजे मुक्तिबोध के ज़माने में उपप्राचार्य थे। हम सीधे उनके कार्यालय में चले गए। उन्होंने हमें बहुत प्यार से लिया, फिर अपने संपर्क मे आए मुक्तिबोध का परिचय कराया। ऐसा लगता रहा, जैसे हमारे आने से उन्हे कोई कष्ट नहीं हुआ है। मुझे यह ध्यान रखना पड़ता है कि मुक्तिबोध के संदर्भों से आज जिस कदर मैं जुड़ा हूं, दूसरे नही, वे अपने-अपने धंधों मे संलग्न हैं।

कॉलेज के पिछले हिस्से मे जाकर वह राजभवन देखा, जिसकी ऊपरी मंजिल में मुक्तिबोध रहा करते थे। हमने उसकी फोटो ली। यह वही मकान है, जहां आने का मुक्तिबोध अपने मित्रों को निमंत्रण दिया करते थे कभी हमारे यहां राजनांदगाव आओ पार्टनर, वहां हमारे पास बहुत बड़ी जगह है। उनके वे मित्र कितने भाग्यशाली हैं, जिन्होंने वहां की मेहमानी का आनंद उठाया होगा। फिर वे भी दिन लोगों ने देखे हैं, जब अपने इसी मकान पर उन्होंने कहा था : 'पार्टनर, अब बहुत टूट गए हम। ज्यादा गाड़ी खिंचेगी नहीं। बस, पांच-सात साल मिल जाएं, तो कुछ काम जमकर कर लूं।' रमेश भाई कह रहे थे : 'मुझे तो यह मकान एकदम मनहूस लगता है—पिशाच-सा भयावह !'

छुट्टियां खत्म होने वाली हैं। कुछ प्राध्यापक बाहर से लौट आए थे। उनसे मुलाकात हुई, लेकिन उसमें उल्लेखनीय कुछ भी नहीं ढूंढ पाता हूं।

लगता था, वे कुछ महत्त्वपूर्ण कहना चाहते हैं, खनूजा की उपस्थिति बीच में हिचक पैदा करती है, इसलिए वे इधर-उधर की बातों में उस अपने महत्त्वपूर्ण को दबा देते हैं। सोचता हूं, यह मेरा भ्रम रहा होगा।

फिर हम बख्शी जी (पदुमलाल पुन्नालाल) के दर्शन करने गए, वे बीमार थे : हां भाई, अच्छी बात है, आप उन पर काम कर रहे हैं, बहुत अच्छा है। मुक्तिबोधजी की 'विपात्र' कहानी को पढ़कर बहुत पहले मैंने भाई खरे जी को एक पत्र लिखा था, उसे आप देख लेना। बाकी आप और लोगों से तो मिल ही लिए होंगे, शुक्ला जी के पास भी हो आओ।

पं० किशोरीलाल शुक्ल राजनादगांव के प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। दिग्विजय कॉलेज की स्थापना का अधिकतर श्रेय उन्हीं को जाता है। इस कॉलेज के वे पहले प्राचार्य थे। जब तक वे वहां रहे अवैतनिक रूप में ही कार्य किया, फिर राजनीति में चले गए। वे मध्य-प्रदेश के खाद्यमंत्री भी रह चुके हैं। जब हम उनके बगले पर पहुंचे, वहां एक रोचक विषय छिड़ा हुआ था। हम भी देर तक उसका लुत्फ लेते रहे। मालूम हुआ कि शहर में कोई तोतों का तमाशा दिखाने वाला आया हुआ है। आपने उस तमाशेवाले को घर पर ही बुलवाकर तोतों की करामत देखी थी। सचमुच एक तोता तो कमाल करता है। आप अपना नाम बोलिए, वह तुरंत स्लेट-पट्टी पर पंजे से उसे लिख देगा।

बड़े आदमियों से मिलने का अपना एक कायदा होता है, हालांकि उनके साथ उठने-बैठने की तमीज मुझमें नहीं है। शुक्लाजी के बारे में कोई धारणा बनाने का भी मुझे बिलकुल हक नहीं है, अलबत्ता वे मेरे साथ बहुत अच्छी तरह पेश आए। यही वजह है कि उनके प्रति अनजाना-सा श्रद्धा का भाव अभी तक मेरे मन में है। मुक्तिबोध को लेकर बेलाग भाव से उन्होंने अपनी बातें, संक्षेप में ही सही, मुझे बताईं। मुक्तिबोध ने अपनी पुस्तक 'नई कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबन्ध' शुक्ला-जी को इस प्रकार समर्पित की है—'श्रद्धेय पं० किशोरीलाल जी शुक्ल, प्राचार्य दिग्विजय महाविद्यालय, राजनादगांव, जिनकी छत्रछाया में

बैठकर मेरा लेखन-कार्य सम्पन्न हो सका, उनके कर-कमलों में स
समर्पित'।

दुर्ग में बिखरा पड़ा सा पड़ता है। 'होटल पूनम' में कुछ विचि
लग रहा हूँ। दरअसल हम टटपूंजियों के हाल निराले हैं—अन
जगहों में परदेसी पंछी-सा आलम रहता है और नयी जगह हुई तो बी
घेर लेती है।

२०.६.७०: छह बजे हैं। सामान बांध लिया है। रायपुर से जबलपु
नाईट-एक्सप्रेस बस का टिकट मेरी जेब में पड़ा है। जितना समय ब
है, उसका सदुपयोग किया जा सकता है।

प्रमोद वर्मा के यहां चार घंटे बिताए। जीवन के बारे में उन्होंने
बातें सुनाईं, जिन्हें मैंने उनके लेखों—'प्रकाश की मीनार और अंधे
घेर' आदि में पढ़ा था या जिनकी जानकारी मुझे अन्य स्रोतों से प्राप्त
चुकी है। नागपुर में मुक्तिबोध और वर्माजी का चार वर्ष तक साथ रहा
था और उनकी मित्रता अंतत: कायम रही। उस दिन माताजी बता रही
थीं—भोपाल और दिल्ली में उनके इलाज के दौरान हमारा परिवार
प्रमोद भैया के घर पर ही रहा था। उन दिनों वे दुर्ग में रहते थे।

मेरा निवेदन मूलत: मुक्तिबोध के जीवन से सम्बन्धित था, किन्तु मैं
यह नहीं जान सका कि कैसे हमारी बातचीत का रुख उनके सृजक-आलोचक
व्यक्तित्व से जा मिला था, जिसे वर्मा जी अपने दृष्टिकोण से बहुत देर
तक मुझे समझाते रहे। निस्सन्देह उससे मुझे कुछ लाभ हुआ है।

वर्माजी के पास उनके मित्र स्वर्गीय रामकृष्ण श्रीवास्तव की कविताएं
प्रकाशन के लिए प्रस्तावित हैं। संग्रह की भूमिका उन्होंने लिखी है,
मुझे उसकी टाईप-प्रति देखने का अवसर मिला। 'एक महत्त्वपूर्ण किन्तु
अधूरी काव्य-यात्रा' शीर्ष इस भूमिका में मुख्य रूप से रामकृष्ण श्रीवास्तव
की काव्य-प्रतिभा का मूल्यांकन किया गया है। भूमिका में एक उप-शीर्षक
है—मुक्तिबोध से सम्पर्क। वहां वे लिखते हैं: उन दिनों मुक्तिबोध नागपुर
में रहते थे। रामकृष्ण उनके सम्पर्क में आए। मुक्तिबोध उनकी सहज

और बर्बर प्रतिभा पर एकबारगी मुग्ध हो उठे। रामकृष्ण की सहजात सृजनात्मक प्रतिभा को चिन्तन का आधार और बौद्धिकता का आलोक मिला।

जब मैं हरि ठाकुर के घर पहुंचा, वे एक अठारह-बीस साल के लड़के की मिन्नत-सी कर रहे थे, वह शायद उनकी प्रेस का कोई कर्मचारी था : देखो भाई, ऐसा तो तुम्हें नहीं करना चाहिए, आखिर हमें नुकसान पहुंचाकर तुम्हें क्या मिल जाएगा ?

वे बहुत परेशान रहे होंगे। मुझे कुर्सी पर बैठने के लिए कहकर, जब वे उस लड़के से निपट लिए, तब उन्हें मेरा ध्यान आया - हां जी, आपको क्या काम है ? ···अरे साहब, आप इतने दूर से आए हैं और मैं अपनी ही बातों में उलझा हुआ हूं।

इस प्रकार वे बहुत विनम्र हो आए। बातचीत के बाद उन्होंने अपनी तीन कविता-पुस्तकें मुझे भेंट-स्वरूप दीं। 'हस्ताक्षर' पत्रिका का वह अंक भी भिजवाने का वायदा किया, जो मुझे वहां उसके सम्पादक की अनुपस्थिति के कारण उपलब्ध नहीं हो सका था।

विदाई लेने श्रीमती मुक्तिबोध के यहां, वहां से दिवाकर मुझे दूर तक छोड़ने आया।

भावुक-सी एक प्रतिक्रिया : मुक्तिबोध के साहित्यिक योगदान में आप उन्हें चाहे जैसे ढूंढें, यह आपकी अपनी मेधा है कि मुक्तिबोध वहां किस रूप में मिलते हैं। उनके परिवार में भी आप उन्हें पाने का प्रयास कर सकते हैं। मिलिए उनके ज्येष्ठ पुत्र रमेश गजानन मुक्तिबोध से—एक उतावलापन, जल्दबाजी, किंचित व्यवहार-कुशलता, किन्तु यह सब तभी तक, जब तक आप उन्हें जच नहीं जाते हैं। आपको अपनी यथायोग्यता साबित करने की जरूरत नहीं है, आपके लक्षणों से ही प्रकट हो जाएगा कि हां, आप डिजर्व करते हैं। आप उन्हें 'चीट' नहीं कर सकते। वे सब भांप लेते हैं। पिता ने जहां कहीं थोड़ी-सी भी उदासीनता बरती थी, वहां वे अतिरिक्त सावधान हो गए हैं, आखिर घर-गृहस्थी का भार सम्भालना

वहम, जो आपके मन में वहां से पनपता आ रहा था, मुरझा जाएगा। वे यहां अपने बड़े बेटे से दूर रायपुर में रह रही हैं, सिर्फ बच्चों की शिक्षा का ख्याल ही यह दूरी बनाए हुए है, वरना अपने पोतों की याद उन्हें हर क्षण आती रहती है।

यहां दिवाकर साइंस कॉलेज का विद्यार्थी है, साथ ही वह कहीं क्लास भी लेता है। और सारे बच्चे पढ़ रहे हैं। उषा ने मैट्रिक नहीं किया, सिलाई-कढ़ाई सीख रही है। माताजी उसकी शादी के लिए चिन्तित हैं, इसलिए उन्हें कई जगह जाना है, कई लोगों से मिलना है। उषा बहुत सकोचशील लड़की है, बच्ची-सी। वह भीतर से चाय भिजवाएगी। बातों का क्रम चलता रहेगा। दिवाकर चुप रहता है, फिर बाहर चला जाएगा, इसलिए कि आपकी नीयत में वह विघ्न नहीं बनना चाहता।

अब आप और शान्ताजी। वे बातें, जहां तक उन्हें जानकारी है, आपको सहज ही मिल जाएंगी। यह भी कि इस बारे में मैं फिर कभी बता सकूंगी।···देखिए, मैं तो पढ़ी-लिखी नहीं हूं, न ठीक से बात ही कर सकती हूं। उनके बाद से मैं बहुत बोलने लगी हूं। कुछ लिखने की बात? बताया तो, मैं पढ़ी-लिखी कहां हूं। मेरा विकास एक गृहिणी तक रहा है। रही श्रेय की बात, वह आप उनके माता-पिता को ही दें, वे ही उसके अधिकारी हैं।

अपने परिचितों, जो मुक्तिबोध के मित्र हैं, जिन्हें वे जानती हैं या जो उनके मेहमान रह चुके हैं, उनके सम्बन्ध में, यदि आप भी उन्हें जानते हैं, वे आपसे उनके बारे में, उनके बाल-बच्चों की कुशलता के बारे में उत्सुक होकर पूछेंगी। जैसे वे चाहती हैं, उनसे कहीं मिलना हो सके, और नहीं तो उन्हें पत्र द्वारा तो वे अपने समाचार भेज ही सकते हैं। एक भीतरी लगाव उन्हें बेचैन रखता है, लेकिन इससे आगे कि कोई क्यों मिलने नहीं आता, लोग पत्र तक नहीं लिखते, इस बारे में वे कम ही सोचती हैं। शायद सबकी अपनी-अपनी विवशताएं होंगी।

चलते समय आप महसूस करेंगे, जैसे आप अपना घर छोड़ रहे हैं।

गिरीश पूछेगा, ऐ भैया, फिर कब आओगे ?

जबलपुर : १. ७. ७० रेलवे प्लेटफार्म की एक बेंच पर बैठा हुआ हूं। गई रात की सब-बातें स्वप्न की तरह याद आती हैं—काली बरसाती रात, बादलों की गड़गड़ाहट का घटाटोप, रुकी-टपकती बस, परेशान यात्रियों की भिनभिनाहट, कंडक्टर की हंसी और गाड़ीवानों के उस सिहरन-भरे वातावरण को, गुरुधा के पहाड़ी घुमाव-घाटों और सड़क के दोनों ओर की वनावलियों, झाड़-झंखाड़ों को मैं कभी आंखें मींचकर महसूस करता रहा तो कभी दीदे फाड़कर देखता रहा।

जबलपुर मेरा देखा हुआ शहर है, फिर भी मुझे आश्चर्य हो रहा है। एक ही दिन में यहां का सारा सेल खत्म हो जाएगा, मैं इसकी बिल्कुल उम्मीद नहीं करता था। परसाई जी की बदौलत यह सब सम्भव हो सका है, इसलिए अपनी कार्य-कुशलता को लेकर मैं गलतफहमी का शिकार नहीं हुआ हूं।

···लेकिन मैं सोचता हूं, समय की पर्तें किसी हलचल को, यदि वह सचमुच महत्त्वपूर्ण थी, अपने नीचे कभी नहीं दफना सकतीं; उसका विश्लेषण भविष्य की मांगों से जुड़ जाता है और वह निरन्तर जारी रहता है। उसकी बिनाह पर हुआ आन्दोलन, चाहे वह सचमुच अपरिहार्य रहा हो, स्वरूपतः तभी इतिहास बनता है, जब वह अपने मूल कारण का औचित्य सिद्ध करने के लिए सदैव तत्पर रहे, अन्यथा उसका सामयिक महत्त्व, आशा के विपरीत, एक सस्ते समारोह का दर्जा ले लेता है, जिसके निहित तात्पर्य चर्चा का विषय नहीं बनाए जा सकते। मेरी खोपड़ी में तीतर का बाल तो नहीं है···लेकिन मैं सोचता हूं, जब अचानक कोई महत्त्वपूर्ण हलचल होती है, उसे एक सुघड़ आन्दोलन का रूप देने की अगवानी में पूरा कौशल, सारी निपुणता, सक्रिय योगदान, सब-कुछ लगा देते हैं, फिर उसकी समाप्ति और उससे प्राप्ति के बाद आराम से चुप्पी साध ली जाती है, इस इन्तजार में कि उस आन्दोलन का स्वरूप ही महत्त्वपूर्ण इतिहास बन जाएगा। लेकिन सोचता हूं, चुप्पी की तो कोई भाषा नहीं होती, उसका कुछ भी अर्थ

लगाया जा सकता है।

हरिशंकर परसाई का पुराना पता ही मुझे मालूम था, उसे मैंने दिल्ली की एक पत्रिका से लिया था। उसी पते पर मेरे कई पत्र उन्हें प्राप्त हो चुके थे, इस बात की सूचना मुझे डा० प्रेमशकर (सागर) ने भेजी थी। अपने पुराने परिचय के आधार पर जब मैं वहां पहुचा तो मालूम हुआ कि अब वे वहां नहीं हैं, नेपियर टाउन में ही उन्होंने दूसरा मकान बदल लिया है। उनकी नई जगह ढूढने में मुझे कोई खास दिक्कत नहीं हुई।

होटल में अपना सामान फेंककर, मैं सुबह-ही-सुबह उनके यहां पहुच गया था। मुझे अपने कमरे मे बिठाकर वे मेरा एक पत्र, जो उनके पते पर मेरे मित्र गौतम ने मुझे लिखा था, लेने भीतर चले गए। मैं सामने की दीवार पर टंकी मुक्तिबोध की फ्रेम मे जड़ी हुई तसवीर देखने लगा। तभी खयाल आया कि मुक्तिबोध को परसाई जी 'गुरु' कहकर सबोधित करते थे : गुरु, कितने ही प्रगतिशील विचार हों आपके, आदतों से 'फ्यूडल' हो। मेरा मेहमान है, मेरे घर सोएगा, मेरे घर खाएगा···

तब तक चाय आ गई थी। परसाईजी कह रहे थे : हां, वे विलक्षण व्यक्ति थे, ज़िद्दी भी।···और बातें तो आपने जान ही ली हैं, यहा आप खरे जी से जरूर मिल लेना, मैं उन्हें फोन कर देता हू।

वे फोन कर रहे थे, इतने मे उनके कोई मिलने वाले आ गए। उनसे परिचय हुआ, वे बहुत अच्छे नाटक वगैरह लिखते हैं। इसी दौरान, बात चीत से जाहिर हुआ कि परसाईजी अभी तक अपना आर्टिकल तैयार नहीं कर सके हैं, परसों उसके भेजने की आखिरी तारीख है, सपादक का तकाज आ चुका है। मैंने सोचा, मुझे उनका अधिक समय नहीं लेना चाहिए— और बातें तो मैंने जान ही ली हैं, उनके बाद 'आलोचना' के मुक्तिबो विशेषांक मे परसाईजी का सस्मरण फिर से पढ़ना ही बाकी रह जाता है

'वसुधा' की फाईलें देखने की बड़ी लालसा थी। उसके बारे मे परसा जी की प्रतिक्रिया बताना चाहूंगा! 'वसुधा' की एकमात्र उपलब्धि 'ए साहित्यिक की डायरी' है। मुझे उसके बन्द होने का पश्चाताप इसीलि

नहीं है।

इस मामले में भी मैं परसाईजी पर ही निर्भर करता था कि यहां मुक्तिबोध के और कौन-कौन परिचित रहे हैं, जिनसे मुझे मिलना चाहिए। उन्होंने बताया, मेरे ख्याल से तो और कोई ऐसा नहीं है, जिससे आपका कोई लाभ हो सकता है।

मुक्तिबोध अक्तूबर, १९४६ में बनारस छोड़कर जबलपुर आए थे। यहां आकर शुरू के दो महीने बेकार रहे, उसके बाद सितम्बर, १९४८ तक का समय डी० एन० जैन हाई स्कूल की मास्टरी में बीता, फिर वे नागपुर चले गए। डी० एन० जैन हाई स्कूल अब कॉलिज बन गया है। उस ओर मैं यूं ही चला गया था, काम का आदमी वहां कोई नहीं मिला। स्कूल-मास्टरी के साथ-साथ जबलपुर में मुक्तिबोध गुप्त रूप से 'न्यू एज' के सर्क्यूलर भी रहे, दैनिक 'जयहिन्द' में भी उन्होंने दो-एक महीने काम किया, बसन्त पुराणिक के साथ 'समता' त्रैमासिक निकालने में योग दिया और कुछ समय तक महाकौशल गर्ल्स कॉलिज में हिन्दी की क्लासें भी लीं, लेकिन आजकल यहां उनके जबलपुरी जीवन की वास्तविक गतिविधियों को बतानेवाला एक भी आदमी नहीं है। बसन्त पुराणिक मद्रास में हैं।

पत्र द्वारा सम्पर्क स्थापित करने के प्रयास में मुझे अनेक व्यक्तियों का सहयोग मिला है। इस सम्बन्ध में नर्मदाप्रसाद खरे की उदारता को मैं कभी नहीं भूल सकूंगा। मध्य-प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की मासिक विवरणिका के उस अंक को, जिसमें भोपाल में हुए मुक्तिबोध-स्मृति समारोह की विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी, उन्होंने मुझे अपनी फाईल से निकालकर भिजवाया था। उनका वह अंक आज लौटा दिया है। परसाई-जी के यहां से मैं सीधा उन्हीं के पास चला गया था। वे मुझे अपने 'लोक-चेतना प्रकाशन' पर मिले। कल ही लखनऊ से आए थे और सीजन होने ... ह से एकदम व्यस्त थे। वैसे भी, वे कहने लगे, मुक्तिबोध से मेरा निकट का सम्बन्ध कभी नहीं रहा। उन पर मेरे संस्मरणात्मक लेख ..., उन्हें खोजना पड़ेगा, प्राप्त हो जाने पर भेज दूंगा। बख्शीजी का वह

पत्र भी, जिसकी आपको जरूरत है।

जबलपुर मेरा देखा हुआ शहर है, फिर भी मुझे आश्चर्य हो रहा है। एक ही दिन में यहां का सारा खेल खत्म हो जाएगा, मैं इसकी बिलकुल उम्मीद नहीं करता था।

भोपाल : २. ७. ७० : चौतीस-अप ट्रेन डेढ़ घंटा देर से पहुंची। मूसलाधार बारिश, वास्तव में जिसे मूसलाधार कहते हैं। स्टेशन से तांगे में ताल्या टोपे नगर की ओर, सड़कों का उतार-चढ़ाव और मूसलाधार बारिश, वह रुकने का नाम नहीं ले रही थी। उधर कोई होटल नहीं मिला। विद्रोहीजी का मकान ढूंढा। बूढ़ा तांगेवाला मेरी मूर्खता पर हंस रहा था। हम दोनों तराबोर होकर ठिठुरने लगे थे। हमें घोड़े की हिम्मत और मासूमियत धीरज-सा दे रही थी, जैसे वह बेजबान जानवर हमें तरस की निगाहों से देख रहा हो, लेकिन हम लोग अपने स्वार्थ में सिमटकर कितने लापरवाह हो जाते हैं। विद्रोहीजी के मकान के बाहर तांगा रोककर उनसे समय निश्चित किया, फिर एक स्टाल पर जाकर गरमागरम चाय पी और वापस स्टेशन के पास ही इस रद्दी लॉज की शरण में चले आए। तांगेवाला निहायत शरीफ आदमी था : मियां, दे दो जितना मुनासिब समझो, आज तो साली बारिश ने ही समाप्त कर दिया।

मुक्तिबोध के साहित्यिक पड़ोसियों में एकमात्र विद्रोहीजी ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने उन पर कुछ भी प्रकाशित नहीं कराया है। सूचना एवं प्रकाशन विभाग के कार्यालय में जाकर उनकी मेज पर मैं उनके सम्पर्क में आए मुक्तिबोध का वृत्तान्त लगातार चार घंटे तक अपनी संकेत-लिपि में लिखता रहा। अपने 'महागुरु' की वास्तविक प्रतिभा न पहचानने वाले महानुभावों के प्रति विद्रोहीजी के मन में तीव्र आक्रोश का भाव लक्षित किया जा सकता है : आप क्यों उनके पीछे परेशान हो रहे हैं — वहीं कविता की (को)-चेयर पर बैठकर, आपकी लेखनी से भी अगर महागुरु एक और सदा अजनबी रूप ग्रहण कर लेंगे, तभी बोध का महाभारत अशुद्ध हो जाता था!

किशोरीजी मुझे अपने साथ लेकर अनिलकुमारजी से मिलाने ले गए, उनका दफ्तर यहीं पास में ही है। अनिलकुमारजी ने मेरे पत्र का उत्तर नहीं दिया था। वे कहने लगे : पत्र में आपने इतनी बातें पूछ ली हैं, जिनका उत्तर देने के लिए मुझे फुर्सत की जरूरत थी, बल्कि ठीक तरह से तो उनका निपटारा आमने-सामने बैठकर ही किया जा सकता है। जैसे आप देखेंगे, घर पर आपका लिफाफा मेरी मेज पर सामने रखा हुआ है, मैंने उसे नजरअन्दाज नहीं किया है।

यहीं हम मदारियाजी से मिले। उनसे बातचीत का समय ले लिया है। दफ्तर में उन्हें काम रहता है, कल उनके घर पर ही मुलाकात संभव हो सकेगी।

१. ७. ७० : सुबह आठ बजे तात्या टोपे नगर, मदनमोहन मदारिया के यहां डेढ़ घंटा, वे नागपुर में मुक्तिबोध के संपर्क में आए थे और उनके साहित्य, विशेष रूप से उनकी कहानियों में रुचि रखते हैं।

शरद जोशी के साथ दस बजे से लेकर चार बजे तक, पहले बातचीत और फिर गपशप का बखिया-उधेड़ सिलसिला—खट्टा, मीठा, बड़ा मजेदार सिलसिला। हां, आज हम उसे मजेदार कह लेते हैं, लेकिन जैसाकि जोशीजी अनुभव करते हैं, वह करुण-रस की उत्तेजना और बेचैनी से जुड़ा हुआ हास्यास्पद इतिहास है। उस कडियल जान का आखिरी संघर्ष, चला-चली का वह अनोखा आलम, हम उसकी कल्पना कर सकते हैं और अवाक रह जाते हैं। जिन्होंने उसे प्रत्यक्ष देखा है—पीड़ा में मुसकराते और छटपटाते—वे भी चुप रहते हैं, लेकिन अगर कोई उसकी याद दिलाता है, तब उन्हें क्या हो जाता है। वे उसे बचा नहीं सके। वे उसे याद करते हैं, तब उन्हें वे भी याद आते हैं, जिन्हें वे जानते हैं, जिन्होंने कुछ नहीं किया या जो उस संघर्ष और छटपटाहट से दिखावे और मतलब की नीयत लेकर जुड़े थे। मुझे लगता है, बहुत-सी बातें हम जानना चाहते हैं, उनकी जानकारी हमारे लिए उपयोगी हो सकती है, लेकिन हम उन्हें लिखकर [illegible] हुए झिझकते हैं, डरते हैं। उन पर उपन्यास-जैसी रचना की

जा सकती है, चूकि वहा पकड़ मे आने का कोई खतरा नहीं रहता।

जोशीजी ने मुझे एक उपयोगी तथ्य से परिचित कराया—राजकीय हमीदिया कॉलेज के प्रो० जाउलकर के निर्देशन मे मुक्तिबोध पर कुछ काम हुआ है, उसकी जानकारी मैं उनके यहा जाकर प्राप्त कर सकता हू। वे टी० टी० नगर के एरिया नं० १२५० मे रहते हैं।

प्रो० जाउलकर के दरवाज़े पर दस्तक। उनके बारे मे मैंने जिस बूढे प्रोफेसर की कल्पना कर ली थी, उसकी जगह एक स्वस्थ-सौम्य युवक ने मुसकराते हुए मेरी अभ्यर्थना की, प्यार से ले जाकर अपने कमरे मे बिठाया।—आप ही जाउलकर जी हैं ? मैं तो साहब आपको लेकर··· लेकिन आप तो एकदम जवान हैं और आपकी सेहत, मैं तो आपके सामने मरियल लगता हूं। वे हसने लगे : लेकिन इसमे मेरा कोई कसूर नही है। स्वस्थ शरीर मुझे पैतृक रूप मे मिला था और इसे आप मेरे माता-पिता का वरदान कह सकते हैं। आजकल इसे वैसा ही बनाए रखने को मेरी पत्नी अपना धर्म समझती हैं। आप देखेंगे, वे मेरे लिए पौष्टिक तथा स्वादिष्ट भोजन की व्यवस्था मे कितनी तत्पर रहती हैं।

सौभाग्यमल जैन ने प्रो० माधव जाउलकर के निर्देशन मे विक्रम महाविद्यालय की वर्ष १९६६ की एम०ए० परीक्षा के अष्टम प्रश्न-पत्र के अंतर्गत 'गजानन माधव मुक्तिबोध' शीर्षक प्रबन्ध प्रस्तुत किया था। उसकी एक प्रति प्रोफेसर जाउलकर के पास है। उसे मैं दो घटे तक देखता रहा।

जिन दिनो मुक्तिबोध नागपुर मे रहते थे, जाउलकरजी वहा एस०पी० कॉलेज के विद्यार्थी थे। वहा-वे उनके बारे मे सुनते जरूर थे, लेकिन अपरिपक्वता के कारण उन्हे समझते नहीं थे। समझने की स्थिति बाद मे आयी, विशेष रूप से जब वे बीमार थे उनकी ओर ध्यान गया। उन्हे, उनकी पुस्तकों को समझा-पढ़ा। यह भी तभी अनुभव किया कि उन पर कुछ काम करना चाहिए। इसी वजह से उन्होने अपने प्रिय छात्र सौभाग्यमल जैन को उपर्युक्त विषय लेने का सुझाव दिया था। प्रो० जाउलकर कह रहे

थे : प्रस्तुत प्रबन्ध का महत्त्व, जैसाकि आपने भी अनुभव किया है, परीक्षोपयोगी दृष्टि से ही आंका जा सकता है, फिर भी विद्यार्थी का परिश्रम निश्चय ही सराहनीय है, चूंकि मुक्तिबोध पर व्यवस्थित रूप से काम करने की पहल उसी ने की थी। सौभाग्यमल जैन ने मुक्तिबोध के जीवन और काव्य को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। जीवन-परिचय को प्रस्तुत करते समय उन्होंने तब तक प्रकाशित संपूर्ण सामग्री से सहायता लेने का भरसक प्रयास किया है। यह बात बिलकुल दूसरी है कि वह उपस्कारक सामग्री वस्तुतः किस हद तक महत्त्वपूर्ण या प्रामाणिक मानी जा सकती है।

हमारे परिवेश में दाम्पत्य जीवन का अपना निराला सौंदर्य है। मुझे वे दम्पति बहुत पसंद आते हैं जो साथ बैठकर भोजन करते हैं और जिनकी रसोई से चावल की महक आती रहती है। खाना खाते समय जाउलकर जी कह रहे थे : मुझे पूरी-पूरी आशा है, आपने मेरी सेहत का राज जान लिया है और आप यहां फिर आना पसंद करेंगे।

४-७-७० : कारण नितान्त व्यक्तिगत है, लेकिन आठ तारीख को मुझे दिल्ली में होना चाहिए।

बस एक जिद थी, वह पूरी हो गई। शुजालपुर गया और वहां थोड़ी देर रहकर वापस, बात कुछ बनी नहीं। मंडी में आज उस गुजरे जमाने की दास्तान सुनानेवाला कोई नहीं मिला। आस-पास के रमणीय स्थानों को देखा—केवल नदी, जल-भरे नाले, अमराइयां और विस्तीर्ण हरियाली। शारदा शिक्षा सदन का रूप ही बदल गया है। अतीत और वर्तमान के परिवर्तन को लक्षित कर पाना मेरे लिए सम्भव नहीं था। शुजालपुर मंडी के शारदा शिक्षा सदन में मुक्तिबोध नवम्बर, १९३८ से अगस्त, १९३९ तक और अक्तूबर, १९४१ से सितम्बर, १९४२ तक अध्यापक रहे थे। 'तारसप्तक' के वक्तव्य में मुक्तिबोध ने अपने शुजालपुरी जीवन का महत्त्व स्वीकार किया है। वहीं उनका वास्तविक झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ था, जो अन्ततः उनकी जीवन-दृष्टि का अभिन्न अंग बना रहा।

उनके बुरहानपुरी जीवन के सम्बन्ध में सदन के तत्कालीन हेडमास्टर डॉ० ना० वि० जोशी से मैं सम्पर्क स्थापित कर चुका हूं और उनके सहयोगी नेमिचन्द जैन से दिल्ली में मिलना है।

भोपाल आकर शाम को अनिलकुमारजी से उनके दफ्तर में मिला, वहां से उन्हीं के साथ घूमता हुआ यहां अपने लॉज तक। उनसे कल का समय ले लिया है। घर पर फुर्सत से बात हो सकेगी, कुछ रिकॉर्ड देखने का भी अवसर मिलेगा।

५-७-७० : एक बजे से लेकर पांच बजे तक अनिलकुमारजी के घर पर, वहां उनसे अनौपचारिक स्तर पर बातचीत करने का अच्छा मौका था। मुक्तिबोध पर, उनकी मृत्यु के बाद, अनिलकुमारजी के कई लेख प्रकाशित हुए हैं। उनकी कतिपय धारणाएं विवाद का विषय रह चुकी हैं। मैं अपने साक्षात्कार में उन्हीं बातों का समावेश करूंगा, जिनका जिक्र प्रकाशित लेखों में नहीं आया है। इस प्रकार पुनरावृत्ति का निराकरण हो सकेगा, चूंकि अतिरिक्त तथ्यों की जानकारी के लिए हम उनके वे लेख सीधे प्रकाशित रूप में देख सकते हैं।

अनिलकुमारजी के पास मुक्तिबोध पर प्रकाशित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। मेरे लिए उसमें नया कुछ भी नहीं मिला, मैं पहले ही वह सब दूसरी जगहों पर देख आया हूं। वे अपने पत्र-व्यवहार को सुरक्षित रखते हैं। पत्रों का वह आश्चर्यजनक रिकॉर्ड उन्होंने मुझे दिखाया, जिसमें अच्छे-अच्छे लोग कालकवलित हैं। मुक्तिबोध से सम्बन्धित पत्रों की कॉपी करने की मैंने उनसे अनुमति ले ली थी। आधा दिन मैं उनके यहां रहा। अपने प्रति उनकी दिलचस्पी और स्नेहपूर्ण व्यवहार से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूं।

बाकी सारा समय पढ़ता रहा। इस शहर में मुक्तिबोध के और कई परिचित हैं, लेकिन उनके यहां से मुक्तिबोध के जीवन-प्रसंगों की अत्यधिक ज्ञात बातें ही प्राप्त की जा सकती हैं।

सोचता हूं, मुक्तिबोध यार-बास प्रवृत्ति के व्यक्ति थे, लेकिन जैसाकि

होता है, सबके साथ उनकी नहीं निभती थी। फिर भी, वे अपनी उपेक्षा या सीधे-सीधे प्रदर्शित नहीं होने देते थे। यह ध्यान में रखने की जरूरत है कि कोई मुक्तिबोध को नाराज करके ही यह बात कही जा सकती है, हालांकि यह भी सच है कि युवा मुक्तिबोध विरोध के आवेश में अपने छोटे भाई शरच्चन्द्र को कई बार डांट दिया करते थे तो दूसरों को भी खरी-खरी सुनाने से नहीं चूकते होंगे। अनेकानेक जीवनानुभवों से गुजरकर वे क्रमशः 'सौजन्यता-प्रिय' हो गए थे। अपनी गृहस्थी की दीन-दशा को सुधारने के लिए दूसरों की 'दुनियादारी शर्तें' उन्हें नामंजूर थीं, इसलिए उसे प्रकट न करने में ही उन्हें बचाव नजर आता था। 'शुभचिन्तक' उन्हें बराबर समझाते रहे, समझदार वे आखिर तक नहीं हो सके या वैसी समझदारी के वे कायल नहीं थे। इस मामले को लेकर बहस में पड़ना उन्हें गवारा नहीं था। यह बात सचमुच आतंक पैदा करती है कि अपनी निम्नवर्ग स्थिति से, जो उनकी अंतर्भूत रही थी, ऊपर उठकर मानव-वास्तविकता के मूल मार्मिक पक्षों पर उनका गहरा चिन्तन-मनन कदाचित् अवरुद्ध नहीं हुआ। जिन्दगी को लेकर उन्होंने जिस दृष्टि का निर्माण किया, जो दृष्टिकोण बनाया, वही वस्तुतः बाहरी लोगों को उनसे मिलने नहीं देता था। सीधे-सीधे उनका विरोध वे करना नहीं चाहते थे, अलबत्ता गैरों को तिरछी मार देने में चूकते भी नहीं थे। मिलने-मिलाने के दौरान दूसरों की 'पॉलिटिक्स' को भांपना उनकी पहली प्रतिक्रिया हुआ करती थी। आदमी की नीयत पहचानने में उन्हें ज्यादा देर नहीं लगती थी, हालांकि सामान्य मामलों में वे अजीबोगरीब चूक कर जाते थे। अपने सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों की जीवन-पद्धति से परिचित होकर ही वे उनसे घनिष्ठता बढ़ाते थे या किनारा कर लेते थे। घनिष्ठता और किनाराकशी के उनके अपने अन्दाज थे। मुक्तिबोध-जैसों का सच्चा साथ [illegible] विरले ही लोग होते हैं। वे साथियों की तलाश में रहते थे [illegible] में आनेवालों में संभावनाएं खोजते थे। होता यह भी [illegible] तक उनके साथ चलकर फिर वे हवा के साथ उड़ जाते

थे। यहीं सम्बन्धों का वास्तविक विकास रुक जाता था, भले ही निगाह की ओर दृष्टि नहीं थी और उसी से बचकर दुनियादारी अपनी रहती थी। यह भी एक तरह की विनाशकारी ही थी। सचमुच विनाशकारी के सिवा गुजारा नहीं है—कम से कम कलाकार के लिए।

कह नहीं सकता कि मेरी धारणाएं कितनी सचाई के करीब हैं। अभी तो मैं इन्हें सामयिक ही मानता हूं प्रामाणिक नहीं, चूंकि इनकी छानबीन जरूरी है।

६-७-७० दक्षिण एक्सप्रेस का इन्तजार कर रहा हूं।

आज का सारा दिन मटरगश्ती में बिताया··· घूमता हुआ सीतपर की ओर, मध्य-प्रदेश समाज-कल्याण विभाग के कार्यालय में अनिलकुमार जी और विद्रोहीजी के साथ फोटो ली। वहां मैं उनसे विदा लेने गया था। हमने पास के एक होटल पर चाय पी। इधर-उधर की बातों से आत्मीयता का तारतम्य बना रहा। वे बहुत प्रसन्न थे, जैसे मैं उन्हें बरसों से जानता हूं।

दिल्ली : ७-७-७० : शोध-कार्य आनन्ददायक होता है—परेशानियों के बावजूद।

रमेश भाई को पत्र लिखना है—कि आपके यहां से रायपुर, जबलपुर, भोपाल होता हुआ दिल्ली आ गया हूं। उज्जैन, इन्दौर आदि नहीं जा सका, भविष्य में योजना बनाऊंगा, वैसे वहां जाना जरूर है। अपनी यात्रा को, सीमाओं के भीतर, मैं सफल मानता हूं। अब उपलब्ध सामग्री को व्यवस्था देनी है, कल से ही यह काम शुरू कर दूंगा।···आपने वायदा किया था, दिल्ली कब आ रहे हो ?

१७-७-७० : आगरा से लौटा हूं, वहां एक आवश्यक काम से गया था। बलवन्त राजपूत कॉलेज के अंग्रेज़ी विभाग में डॉ॰ रामविलास शर्मा से भी मिला। मेरी इच्छा है 'तारसप्तक' के सभी सहयोगी कवियों से सम्पर्क स्थापित किया जाए—थोड़ा-बहुत तो वे मुक्तिबोध के व्यक्तिगत जीवन के बारे में बता ही सकते हैं।

१-१०-७० : इस बीच चुपचाप लगा रहा, काफी काम निपटा लिया है। निवेदित साक्षात्कार प्रेषित किए, वे लौट रहे हैं। पत्राचार का निरन्तर क्रम…यहां दिल्ली में किसी से नहीं मिला—श्याम परमार और गंगाप्रसाद विमल को छोड़कर। मुक्तिबोध पर डॉ० विमल द्वारा सम्पादित 'गजानन माधव मुक्तिबोध का रचना-संसार' पहली प्रकाशित पुस्तक है। पुस्तक में संकलित अधिकतर लेख अन्यत्र (पत्रिकाओं में) प्रकाशित हो चुके थे। डॉ० विमल का सहयोग मुझे शुरू से ही प्राप्त होता रहा है। मैं उनके यहां से मुक्तिबोध की वे सारी कविताएं ले आया था, जो उनके पास प्रकाशन के लिए प्रस्तावित हैं। प्रतिलिपि करके वह सामग्री उन्हें वापस दे दी है।

गुरुचरण सिंह मोगिया ने मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया पर पंजाब विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा के निमित्त काम किया है, यह बात मुझे मालूम थी, लेकिन उसके साथ उन्होंने जीवनी-खण्ड भी लिखा है, इसकी जानकारी डॉ० विमल के सौजन्य से हुई। मोगियाजी से सम्पर्क बना लिया है। उनकी बातें उत्साहवर्द्धक होती हैं। कल ही उनका एक पत्र मिला था।

अब यात्रा का दूसरा दौर शुरू होगा। उज्जैन का टिकट बुक करा लिया है। इस बार मैं आश्वस्त हूं, किसी प्रकार का धड़का मेरे मन में नहीं है। 'तारसप्तक' के वक्तव्य से जुड़कर मैं शब-ए-मालवा की कल्पना करता हूं—'मालवा के विस्तीर्ण मनोहर मैदानों में से घूमती हुई क्षिप्रा की रक्त-भव्य सांझें और विविध-रूप वृक्षों की छायाएं मेरे किशोर कवि की आद्य सौन्दर्य-प्रेरणाएं थीं। उज्जैन नगर के बाहर का यह विस्तीर्ण निसर्गलोक उस व्यक्ति के लिए, जिसकी मनोरचना में रंगीन आवेग ही प्राथमिक हैं, अत्यन्त आत्मीय था।' मुझे डॉ० कौशल मिश्र की याद आ रही … एक पत्र में उन्होंने लिखा था—यदि आप उज्जैन आएंगे तो मेरे … है। उनके मित्रों से भेंट कराऊंगा और कविताओं के प्रेरणा-… [स्थल]) भी दिखाऊंगा।

उज्जैन, इंदौर और उधर ही आस-पास के कस्बों में मुक्तिबोध ने अपने जीवन के आरंभिक, रंगीन, महत्त्वपूर्ण और निर्णायक वर्ष बिताए थे। मिडिल से इंटरमीडिएट तक उनकी शिक्षा उज्जैन के माधव कॉलेज में सम्पन्न हुई थी। माधव कॉलेज मे रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' उनके अध्यापक थे। उन्हीं के सान्निध्य मे मुक्तिबोध का साहित्य-लेखन आरम्भ हुआ था। इंदौर के होल्कर कॉलेज से उन्होंने बी० ए० किया। वही उनकी प्रीति का वह प्रसंग फलीभूत हुआ, जिसे वे अपनी जिद्द पर स्थायी बनाने मे सफल रहे। सितंबर, १९४५ में 'हंस' के संपादक मंडल मे बनारस जाने तक की अवधि मे एक ओर तो उनकी निष्क्रिय स्कूल-मास्टरी का टूटता-जुड़ता क्रम चलता रहा, दूसरी ओर मालवा की साहित्यिक गतिविधियों मे उनके सक्रिय योगदान का सघर्ष जारी रहा। मुक्तिबोध ने मालवा की साहित्यिक चेतना को सगठित करके कैसे जागृति के पथ पर लगाया, इसका विवरण २३ नवंबर, १९४६ के 'कर्मवीर' में प्रस्तुत है। लेखक सघ के तत्कालीन मंत्री रघुनाथ तावडे 'उज्जैन मे प्रगतिशील लेखक-संघ' शीर्षक उस विवरण के अतर्गत लिखते हैं . मुक्तिबोधजी के विचारो ने हम सभी तरुण लेखकों में एक वैचारिक संघर्ष छेड दिया, जिसके परिणाम मे अधिक अध्ययन एवं चिंतन की ओर लेखकगण अग्रसर हुए। धीरे-धीरे विचारों का एक्य बढ़ता गया। सामूहिक चर्चाओं के फलस्वरूप चिंतन की दिशाएं बदलना प्रारंभ हुआ। जीवन के प्रति पुराने विश्वास और मान बदल गए।

उज्जैन : १-१०-७० : जनता एक्सप्रेस सुबह छह बजे नागदा जक्शन पहुंची, वहां पर उज्जैन के लिए गाड़ी बदलनी थी, उसके आने में तीन घटे बाकी थे। सोचा, इस बीच नटवरलाल 'स्नेही' से मिला जा सकता है। 'चांद का मुंह टेढ़ा है' की भूमिका में पढ़ा था,मुक्तिबोध 'अक्सर कष्ट मे पड़े मित्रों और साहित्यिक बन्धुओं के लिए दौड़-धूप करते। मसलन 'नटवर' जी के लिए उनकी दौड़-धूप, बात चलती है तो, लोग याद करते है।' इसी आधार पर मैंने नटवरलाल 'स्नेही' को बहुत पहले एक पत्र

लिखा था, लेकिन आज उनकी पर्ण-कुटी पर पहुंचकर मालूम हुआ कि वे 'नटवर' जी नहीं, 'स्नेही' जी हैं, हालांकि विनम्रतावश स्वयं को सिर्फ 'नटवर' लिखना ही पसंद करते हैं और मुक्तिबोध से उनका व्यक्तिगत सम्बन्ध कभी नहीं रहा: बस एक बार उज्जैन में उनके दर्शन किए थे। नयी कविता में मेरी गति नहीं है। सन् चालीस से पहले का साहित्य ही मैंने पढ़ा है। मैं अपने भारतीय भावों को परंपरागत शैली में लिखता आ रहा हूं।...आप यहां पधारे हैं, बड़ा उपकार किया है। भविष्य में भी पधारते रहिए।

उन्होंने मुझे अपनी कई काव्य-पुस्तिकाएं (भेंट में) दीं; जिन्हें मैं ट्रेन में पढ़ता रहा। उनके 'गांधी मानस' महाकाव्य की विद्वानों ने काफी प्रशंसा की है। 'स्नेही' जी सरस्वती के उपासक हैं और वे अपनी साधना में निष्ठापूर्वक लगे हुए हैं।

यहां आकर पहले दिल्ली का पसीना साफ किया, फिर फ्रीगंज में वसन्त माधव मुक्तिबोध का घर ढूंढा। वे मिले, लेकिन उनकी तबीयत ठीक नहीं थी: अब आ ही गए हैं तो जो प्रश्न पूछना चाहें, मैं तैयार हूं, लेकिन...उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जो आपके लिए उपयोगी हो सकता है। आप इसे संयोग मात्र ही समझिए कि गजानन माधव मुक्तिबोध मेरे बड़े भाई थे।

और मैं वापस चला आया, इस भावना के साथ कि जो-कुछ वे बता सके, वही मेरे लिए पर्याप्त है। और निकट के रिश्तों में कई ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके बारे में, यह मेरी लाचारी है कि मैं बहुत-कुछ नहीं बता सकता।

अब मैं तुरंत डॉ० कौशल मिश्र से मिलना चाहता था। उनका मकान मगरमुहा की एक संकरी गली में है। मालूम हुआ कि वे कालेज गए हुए हैं, इसलिए मैं शांतारामजी की ओर चला गया। वे पास ही सिटी डिस्पेंसरी के क्वार्टरों में रहते हैं। मुझे शरदचंद्रजी की बातें याद हो आयीं: 'चांद का मुंह टेढ़ा है' की भूमिका में कई बातें गलत ढंग से प्रस्तुत की गई [illegible] लिखते हैं कि मुक्तिबोध को बीड़ी पीने की आदत शांताराम

झाड़-झंखाड़ और जंगल जैसा विस्तार था। वहीं भैरवनाथ की चमत्कारी मूर्ति है।

चलो, पहले कालभैरव के दर्शन करते हैं। इस मंदिर का इतिहास बहुत पुराना है। कालिदास, भास, भवभूति, बाण आदि कवियों ने मालवेश्वर महाकालेश्वर की महिमा का वर्णन किया है। पहले मंदिर में जाने का एक ही मार्ग था, किन्तु अब पश्चिम की ओर भी एक द्वार बन गया है। यहां की भव्यता दर्शनीय है—उच्च शिखर पर विद्युत दीप, विशाल प्रांगण, प्रज्वलित नंदा दीप, महाकालेश्वर की स्वयंभू मूर्ति, नंदीगण की पाषाण प्रतिमा, गणेशजी, माता पार्वती, कार्तिकेय, शंकर का पूरा परिवार। मध्य में श्रीराम मंदिर, उसके पीछे अवन्तिका देवी की मूर्ति···मंदिर का कुण्ड, कहते हैं कि इसके जल का स्पर्श मात्र करने से कोटि अश्वमेध यज्ञ का पुण्य-लाभ होता था। और कई मंदिर, अनादि कालेश्वर, जूने महाकाल।

महाकालेश्वर मंदिर के निकट ही पृथ्वी-कूर्म नाग पर विकसित कमल की नाभि पर स्थित बड़े गणेशजी। अब हरसिद्धि की ओर···वह जो मकान चमक रहा है, वहां मैं कुछ दिन अपनी माताजी के साथ रहा था, जब मुक्तिबोध अपनी शादी के मामले में घर से भागकर मेरे पास चले आए थे।

घूमने के चक्कर में ही वे मंदिरों में पहुंच जाते थे, वरना मूर्तिपूजा में उनका विश्वास नहीं था, बल्कि मैं तो समझता हूं कि किसी भगवान तक में उनकी आस्था नहीं थी। धार्मिक प्रभावों से वे ज्यादातर मुक्त रहते थे, वैसे उज्जैन में पूजा-अर्चना के आस्तिक वातावरण से आदमी अपने को बचाकर मुश्किल से ही चल सकता है। उज्जैन भारत की सात धार्मिक नगरियों में से एक है।

यह विक्रमादित्य की आराध्य देवी हरसिद्धि है—रुद्र सागर के तट पर कोट से घिरी इस वैष्णव देवी को तांत्रिकों ने सिद्धपीठ नाम दिया था। चारों ओर चार द्वार, प्रमुख प्रवेशद्वार पूर्व की ओर, दक्षिण में एक बावड़ी

देवी की मूर्ति और साथ ही यंत्र की प्रतिष्ठा भी है।
ा, जब मंदिर के नीचे रुद्र सागर मे असख्य कमल
ग मे एक गुफा है, वहां दुर्गा की साधना चलती है।
े दीप-स्तम्भ हैं, पहले उनके चारो ओर सीढ़ी
रखे जाते थे, अब बिजली के बल्ब जलाए जाते है।
येश्वर की लिंगाकार मूर्ति है। समीप ही रामानुज
र रामानुज सम्प्रदाय वालो ने की थी।
ावदार गलियों से गुजरते हुए यहा नटराज होटल
ाथ रहा। रात आधी से ऊपर हो गई है। कोई
इसका सही अदाजा रात की घुमक्कड़ी मे लगाया
बहुत पुराना शहर है, जैसे एक दीप का सहारा
धेरे मे देखा है।

॰ कौशल मिश्र 'स्नॉबरी' के एकदम खिलाफ हैं।
हले और अतिम दर्शन दिल्ली जाकर किए थे, लेकिन
उनके दरवाज़े मुझे खुले हुए मिले। वे चाहते थे,
द उन्ही के यहां अपना सामान उठा लाऊ। यह मेरे
फिर हम एक निष्कर्ष पर पहुंच गए और सारा दिन
स्टाईल' से घूमना रहा—मगरमुहा से विक्रम

स्कूल देखा, जहा मुक्तिबोध दो साल तक अध्यापक
मे ललितजी मिले। कैसे हमदर्द व्यक्ति हैं, साथ
ए कि हॉल मे मुक्तिबोध का चित्र कहा लगा हुआ
काम करते है। यहा हमने कॉलेज मैगजीन के पुराने
जब मुक्तिबोध वहा विद्यार्थी थे और उनका साहित्य-
या। उनकी मृत्यु के बाद जो विशेषाक निकला था
सका, डॉ॰ मिश्र उसे दूसरी जगह ढूढ़ने के लिए
किसी के पास तो वह मिल ही जाएगा।

मॉडल हाई स्कूल में आजकल ऐसा कोई प्रमाण नहीं है, जो हमें यह बता सकता कि मुक्तिबोध ने किस तरह अपने को यहां नये अर्थ तक विकसित किया था। कॉलेज में और कई जगह गए। डॉ० मिश्र के जानने-वालों का कोई हिसाब नहीं है। चन्द्रकान्त देवताले उनके घनिष्ठ मित्र हैं। उनकी रिश्तेदारी में हम यह सोचकर गए थे कि शायद वे रतलाम से यहां आए हुए हों। देवतालेजी आधुनिक भाव-बोध के संदर्भ में मुक्तिबोध का अध्ययन कर रहे हैं। उनके स्नातकोत्तर को प्रकाशित हुए दो साल से ऊपर हो चुके हैं।

शान्तारामजी के साथ शाम के तीन घंटे बिताए। किशोरावस्था से लेकर एक लम्बी अवधि तक वे मुक्तिबोध के निकटतम साथी रहे थे। मुक्तिबोध की माताजी शान्ताराम को अपना पांचवां बेटा मानती थीं। उनकी स्मृतियों का सम्पूर्ण चित्र कितना उपयोगी हो सकता है, वे कहने लगे : यह देखना आपका काम है, मैं तो बस आपकी योजना के अनुसार उसे सिलसिलेवार प्रस्तुत करने का प्रयास करूंगा।

होटल के अपने कमरे में हम—मैं और डॉ० मिश्र—शेख मुईनुद्दीन साहब की प्रतीक्षा करते रहे, वे साढ़े ग्यारह बजे पधारे। आप हिन्दुस्तानी मुसलमान हैं—कृष्णजी के परम भक्त। नवरात्र चल रहे हैं, वे व्रत रखते हैं, पूजन आदि से निपटकर यहां आए, इसीलिए उन्हें इतनी देर लग गई थी। आजकल बहुत परेशान हैं। मिश्रजी बता रहे थे, यह देवता आदमी है। जिन्दगीभर दूसरों के लिए उजड़ते रहे, अब साथ देनेवाला कोई नहीं है। शेख साहब मुक्तिबोध के पुराने साथी हैं, उन दिनों वे एक ही कॉलेज में पढ़ते थे और कविता में अभिरुचि के कारण परस्पर घनिष्ठता का अवसर प्राप्त हुआ। बातचीत के बाद शेख साहब ने सूरदास के एक पद का अपना अंग्रेज़ी अनुवाद गीत शैली में सुनाया। देर तक हम इधर-उधर की बातें करते रहे। दिक्कत यह है कि आज की दुनिया में शराफत की कोई कीमत नहीं रह गई है।

नटराज की यह विशेषता है कि यहां चौबीस घंटे आप जो जी चाहे

मगा सकते हैं। हम थके हुए थे। साथ बैठकर कॉफी पीने का भी अपना निराला ही स्वाद होता है। रात की फिज़ाओं में 'गरबा' उत्सव का गीत-संगीत लहरों पर तैरता हुआ-सा सुनाई देता है।

७-१०-७० : बड़े आदमियों से एकदम सीधे जाकर नहीं मिला जा सकता, पहले अनुमतियां लेनी पड़ती हैं। मुझे सलाह दी गई थी कि अमुक-तमुक से जरूर मिल लेना। यह झंझट में फसने का धंधा है और वे परेशान नज़र आते हैं। कुल मिलाकर एक आडम्बर खुलता है, जिसकी पोल में सिर्फ भ्रम भरा रहता है, और कुछ नहीं। इसलिए उनसे वह दूगा—मैं अपनी गलती मान लेता हूं। आप बड़े आदमी हैं, आपको छोटे आदमियों की बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

उज्जैन की सेण्ट्रल कोतवाली देखने लायक जगह है। उसकी हवेली, वह रईसों के महल जैसी है, सर सेठ हुकमचंद ने अपने रहने के लिए बनवाई थी, जिसे उन्होंने महाराजा ग्वालियर को भेंट कर दिया था। मुक्तिबोध के पिताजी, नगर कोतवाल की हैसियत से उसकी दूसरी मंज़िल में सपरिवार रहा करते थे। शांतारामजी अपने साथ मुझे वह जगह दिखाने ले गए। वहां की तत्कालीन रियासती परिस्थितियां अब इतिहास बन चुकी हैं, लेकिन खाकी वरदी का दबदबा आज तक बरकरार है। सदर दरवाज़े में प्रवेश करते समय दायीं ओर के हॉल में उसके लक्षण साफ-साफ दिखाई देने लगते हैं। गूंजती गालियों की सख्त बौछार, मेज पर पड़ते मुक्कों की गड़गड़ाहट, सामने खड़े मुलज़िमों का खुशामदी मिमियाना, टप-टप आंसुओं की बरसात—वही आतंक, भय और यातना से भरपूर वातावरण। मैं शांतारामजी की बगल में सिमटकर झांकता हुआ चल रहा था। भीतर अहाते में सिपाही चहलकदमी कर रहे थे। वे शांतारामजी को 'जयराम जी की' कहते हैं। अपने महकमे के इस पुराने आदमी के प्रति उन लोगों के मन में आदर का भाव है। उधर दायीं ओर सीखचोंवाली कोठरियां हैं, कभी उनके पीछे चोर-उचक्के तलघर हुआ करते थे। शांतारामजी ने उंगली के इशारे से बताया, वहां ऊपर मुक्तिबोध रहा करते थे, तब उनके पिताजी छोटे

कोतवाल थे। उस हिस्से में एक बार आग लग गई थी। जीना चढ़कर हम वह जगह देखने गए, जहां मुक्तिबोध अपने पिताजी के नगर कोतवाल बन जाने से लेकर उनके रिटायर होने तक रहे थे। कमरों के बीच में एक बड़ा हॉल है, श्वेत-श्याम चौखटेदार संगमरमरी फर्श और बाहर सड़क पर निकला हुआ पुराने ढग का लम्बा छज्जा, वहां से इधर-उधर बाजार का दृश्य दिखाई देता है। मुक्तिबोध वाला कमरा आजकल एम० एच० ओ० के साहबजादे के कब्जे में है: मैंने उनकी जगह जरूर घेरी हुई है, लेकिन मैं कवि नहीं हूं। शांतारामजी ने कहा: कोई बात नहीं, तुम भी एक दिन बड़े आदमी बन जाओगे, तब इस कमरे का इतिहास और चमक उठेगा।

कोतवाली से बाहर निकलकर, दायीं ओर कुछ कदम चलने पर छत्री चौक आ जाता है। छत्री चौक शहर के मध्य भाग में है। वहीं गोपाल मंदिर है। मंदिर का द्वार बहुमूल्य पन्ने का बना हुआ है। मंदिर के सामने उद्यान में माधवराव सिंधिया की काले पत्थर की प्रतिमा है।

शांतारामजी को जरूरी काम था। उनसे विदा लेकर मैं दाबा रो[illegible] पर दीनानाथ व्यास के यहां पहुंच गया। देर तक बातें होती रहीं [illegible] 'वीणा' और 'रसवती' में व्यासजी साहित्यिक मुक्तिबोध के असाहित्यि[illegible] तौर-तरीकों का अच्छा-खासा हवाला पेश कर चुके हैं।

साधारण आदमी होटलों से बहुत जल्दी ऊब जाता है। आज दी[illegible] मिश्र के यहां दोपहर का भोजन बहुत स्वादिष्ट बना था। खाने के ब[illegible] हम अपने मूड में आ गए थे। वे पूछने लगे: और कैसा रहा? कुछ लो[illegible] समझते हो न, बस फांकते हैं। फांकना, यानी नमक-मिर्च लगाकर [illegible] तथ्य ईजाद करने में वे बहुत माहिर होते हैं। वैसे कमाल है यार, अ[illegible] उन्हें मौका दीजिए, फिर चाहे अपरिचित के साथ घनिष्ठता की [illegible] दास्तान लिखवा लीजिए, उन्हें कोई दिक्कत पेश नहीं आएगी।

रात को वे सांदीपनि कॉलेज में राजनीति पढ़ाते हैं। तब तक हम [illegible] घूमते रहे। उन्हें कॉलेज में छोड़कर मैं फोगन में मटरगश्ती करता र[illegible] फिर निठल्ले-बन पकड़कर छत्री चौक, वहां से लालिडजी के घर, वे [illegible]

बार जाने पर मिले। उनमे विलक्षण आत्मीयता है। मैं उनकी ज़िंदगी के बारे मे सोचता हू और वह आसान नही है।

८-१०-७०: सारा दिन इदौर मे बिताया। वहा मैं दस बजे पहुच गया था। पहले मुक्तिबोध के सबसे छोटे भाई चन्द्रकातजी के यहा गया। वे अपेक्षाकृत निस्सकोच भाव से मिले: मैं नही कह सकता कि पारिवारिक सदर्भ मे भाई साहब का सही चित्र आपके समक्ष प्रस्तुत करने की क्षमता मेरे लिए कहां तक सभव है। फिर भी···

चार घटे मैं उनके यहा रहा। कई उपयोगी और अपरिचित तथ्य सामने आए। वह शिवलिंग आजकल उन्ही के पास है, जिसे उनके परदादा वासुदेवजी जलगांव से ग्वालियर आते समय अपने साथ लाए थे। पूजा-घर मे मैंने भी उसके दर्शन किए। वही उनके माता, पिता और दादा की फोटो रखी हुई हैं।

चन्द्रकातजी से विदा लेकर मैं इदौर की सडकों पर घूमता रहा। चिलचिलाती धूप मे कोई शहर उतना खूबसूरत नही लगता है। लाचार होकर एक रिक्शावाले से ठेका करना पड़ा। वह पहले होल्कर कॉलेज ले गया। दूर तक खुला वातावरण है। मुक्तिबोध के जमाने मे वहा के हालात कैसे थे, यह बतानेवाला मेरे साथ कोई नही था, न इसकी जरूरत ही थी। कोई दूसरा बाहर की बातें ही बता सकता है, बाहरी हालात भीतर कैसे क्या बनाते हैं, इसका भेद वही जानता है।

डॉ० नेमिचन्द्र जैन से मिलने की बडी लालसा थी, लेकिन 'वीणा' का दफ्तर बन्द मिला और उनके घर का पता मुझे मालूम नही था। रिक्शा-वाले से जान-पहचान कर ली थी। टैगोर मार्ग पर विश्वविद्यालय से थोडा आगे एक स्टाल पर हमने चाय पी। फिर साथ चलकर नेहरू पार्क देखा। उन दिनो उसका नाम बिस्को पार्क था। नई हवा पुराने पदो पर मिट्टी डाल देती है। हम इधर-उधर घूमते रहे। साझ की हवा मे फूलो की महक शरारत कर रही थी। रात मे और वह भी चादनी रात मे वहां कैसा लगता होगा इस बारे मे कुछ भी सोचना बेहूदगी है। वे दिन ही अब अंधेरे बन गए

। मुझे बहादुर की याद आती है। मैं जिन्दगी और मौत के बारे में
ोचता हूं, जबकि उन पर कुछ भी सोचने की जरूरत नहीं है।

रेलवे पुल के उस पार पहुंचकर हमने एम० टी० असनानी के क्वार्टरों
ा चक्कर लगाया। तभी आसमान की लाली मंडराने लगी और सेमल
के वृक्षों पर पक्षियों की पुकार में एक उदास तेजी आ गई।

१-१०-७० : कल रात इंदौर से लौटकर शान्तारामजी के साथ शहर
के बाहर का वह निसर्गलोक घूम आने की योजना बना ली थी, जो
मुक्तिबोध के किशोर कवि के लिए अत्यन्त आत्मीय था। सुबह-सवेरे वे
सपरिवार तैयार मिले। टैम्पोवाले से सौदा तय किया और···

गोपाल मन्दिर से एक सीधी सड़क गढ़ कालिका देवी तक जाती है।
देवी का मन्दिर पहले पुराने ढंग का था, अब उसे नया रूप दे दिया गया
है। कहा जाता है कि इसी देवी की आराधना से कालिदास को कवित्व-
शक्ति प्राप्त हुई थी। पास ही क्षिप्रा के किनारे, खेतों में गोर भैरव का
स्थान है। इसी पार प्राचीन ओखर मरघट है। और थोड़ी दूर पर एक
ऊपरी भाग में भर्तृहरि की गुफा। एक सकरे रास्ते से प्रवेश करके हमने
भर्तृहरि का समाधि-स्थल देखा।

भैरव गढ़ बस्ती के एक टीले पर कालभैरव का मन्दिर है। प्रचलित
धारणा के अनुसार कालभैरव की मूर्ति के मुख में मदिरा की बोतल
लगाते ही खाली हो जाती है। उधर जेलखाने की दीवार दिखाई देती
है। जेलखाने को नरकावास भी कहते हैं।

प्रसिद्ध सिद्धवट एकदम क्षिप्रा तट पर अड़ा खड़ा है। इस पवित्र वट
के नीचे नागबलि, नारायणबलि आदि धार्मिक क्रियाएं की जाती हैं।
मुगल शासकों ने इस वृक्ष को कटवा दिया था, किन्तु यह फिर से हरा-भरा

·ेह महल क्षिप्रा के किनारे ऊंचाई पर बना हुआ है। महल
लहराता है। चारों ओर प्रकृति का विविध-रूप सौंदर्य दिखाई
है। यह स्थान उज्जैन का नन्दन वन कहलाता है। महल के बुर्ज,

स्नानागार, पाकशाला तथा विश्राम भवन में कोई अन्तर नहीं आया है। शानारामजी को पुराने दिनों की याद आ गई—एक बार राजघराने के लोग आए हुए थे। मैं ड्यूटी पर था। मुक्तिबोध मेरे पास चले आए। रातभर उन्मुक्त वातावरण का आनन्द लेते रहे।···महल के सामने बावन कुण्डों में नदी का जल निरन्तर प्रवाहित, कल-कल ध्वनि उपजाता है। नासिरहीन पारे की गर्मी का शमन करने के लिए इन कुण्डों में पड़ा रहता था। एक दिन उसके गुलाम ने उसको अचेत समझकर पानी से बाहर निकाल लिया। होश आने पर सुलतान ने शाही शरीर को हाथ लगाने के अपराध में गुलाम के हाथ कटवा दिए।

मगलनाथ के रास्ते पर एक मन्दिर आता है, उसके पिछवाड़े खण्डहर में एक बड़ी बावड़ी उपेक्षित-सी पड़ी है। इधर-उधर झाड़ उगे हैं और पास की दीवार से लगे वृक्षों की डालियां बावड़ी की सीढ़ियों पर झुकी खड़ी हैं। निचली सीढ़ियां पानी में डूबी हुई हैं। वहां अथाह काले जल पर सूखे पत्ते छितरा गए हैं।···मगलनाथ का दृश्य अत्यन्त रमणीय एवं चित्ताकर्षक है। मोड़ पर क्षिप्रा की जलधारा प्रचंड, मंथर और श्याम-नील कामिनी की अंगड़ाई का आभास कराती है। वहां मन के सम्पूर्ण आशय को संभालना मुश्किल हो जाता है।

मछिन्दरनाथ की समाधि पर आजकल मुसलमानों का अधिकार है। हिन्दुओं का कहना है कि नाथ सम्प्रदाय के आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ की समाधि को ही उन्होंने पीर साहब की दरगाह बना दिया है। कहानी कुछ भी रही हो, अब यह स्थान 'पीर मछन्दर' कहलाता है।

शायद मैं बेकार का इतिवृत्त लिखकर पन्ने खराब कर रहा हूं। मालवा का विस्तीर्ण निसर्गलोक, क्षिप्रा की रक्तभव्य सांझें, विविध-रूप वृक्षों की छायाएं, जो मुक्तिबोध की आद्य सौंदर्य-प्रेरणाएं रही थीं, उनका वर्णन मेरी कल्पना के बाहर है। यहां के प्राचीन खण्डहर, पुराण-गाथाओं से जुड़े विविध धार्मिक स्थल, गुफाएं, तहखाने, टेकड़ी, बावड़ी और सरोवर, क्षिप्रा तट के घाट-बाट, झाड़-झंखाड़ और अरण्य-प्रदेश—इनके

वातावरण में उद्गत स्मृति-शब्दों का उपयोग मुक्तिबोध की बाद की कविताओं में प्रतीक और बिम्ब-योजना के उपकरण-रूप में मिलता है। हम वहां सीधे उनका आस्वादन कर सकते हैं।

लेकिन हमें सिर फुड़ाने की बुरी आदत है। बहुत पुराने उस छोटे-से औघड़ बाबा से कुछ नहीं मिला। औघड़ ने हमारे साथ अधिक बात करना वाजिब नहीं समझा। मेरा साथी उसका परिचित था। पूछा: इसे यहां क्यों लाया है? बताया कि कुछ पूछना था। और बिना एक शब्द कहे वह एक कोठरी में जाकर वापस आ गया। अपने हाथ के खोपड़-पात्र को उसने मेरे सामने कर दिया। पात्र में कोई सिंदूरी पदार्थ रखा था, जिसके चारों ओर चींटियों-जैसी चीज चिपकी हुई थी। उसने समझाया: ये पिपीलिकाएं चिपकी ही नहीं हैं, चूस भी रही हैं, दिन ढलते-ढलते पदार्थ काला पड़ जाएगा। मैं उसकी बातों से बिलकुल चमत्कृत नहीं हुआ, यह वह भांप गया होगा। भीतर से उसने जोर से कहा: अब यहां से जाव।

और हम सचमुच चले आए। क्यों न चले आते? मैं खुद वहां थोड़ी देर और रुकना चाहता था, ताकि उसका विश्वासपात्र बन सकूं, मैंने इसकी जरूरत भी महसूस की थी, मगर मेरे साथी ने मुझे इसकी इजाजत नहीं दी।

प्रो० भगवतशरण जौहरी से उनके घर पर मिला और प्रो० एन० आर० भावे से सांदीपनि महाविद्यालय में। दोनों ही मुक्तिबोध के माधव कॉलेज में सहपाठी रहे थे।

कल शाम को रतलाम से ट्रेन पकड़कर दिल्ली रवाना हो जाऊंगा। वहां चन्द्रकान्त देवताले और दिनकर सोनवलकर से मुलाकात हो सकती है।

दिल्ली: ३. १. ७१: रमेश मुक्तिबोध अपने पिताजी की रचनाओं के संकलन प्रकाशित करवाने के सिलसिले में दिल्ली आए हुए हैं। उनकी अब तक की दौड़-धूप के परिणामस्वरूप 'विपात्र' उपन्यास भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है। कहानी-संग्रह ज्ञानपीठ

प्रेस में है। चालीस कविताओं के एक संग्रह का अनुबन्ध राजकमल प्रकाशन से हो गया है। और निबन्धों का अनुबन्ध राधाकृष्ण प्रकाशन से करना है।

जब से रमेश भाई यहां आए हैं, मेरा सारा दिन उन्हीं के साथ बीतता है। प्रकाशन के काम में दूसरे लोगों का सहयोग है, इसलिए वहां मैं चुपचाप उनके पीछे रहता हूं। दिल्ली के दर्शनीय स्थानों की सैर करते-कराते और इधर-उधर सड़कों पर चक्कर-दर-चक्कर घूमते-घामते अब हम अनौपचारिक स्तर पर घुल-मिल गए हैं। गंभीरतापूर्वक न हम साहित्य की चर्चा करते हैं, न साहित्यकारों की, चूंकि वे कहीं भी कमिट होना नहीं चाहते हैं। फिर भी, हमारे सम्बन्धों का स्वरूप ही ऐसा है कि वैसे अनेक प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं और तब हम उनके प्रश्नों से बचाव ढूंढ़ने की अपेक्षा विश्वसनीय रुख अपना लेते हैं।

त्रिवेणी कला संगम पर आज की शाम काफी दिलचस्प रही। वहां शमशेरजी की आठवीं वर्षगांठ के उपलक्ष में सत्कार-गोष्ठी का आयोजन किया गया था। रमेश भाई को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि मैं दिल्ली के साहित्यकारों से कितना अपरिचित हूं। अपने इस अज्ञान के बावजूद, गोष्ठी के बाद हम कई लोगों से जबरदस्ती मिले। नेमिचन्द्र जैन से इण्टरव्यू के बारे में निवेदन किया। उन्होंने अपना टेलीफोन नम्बर नोट कराया। वे भारतभूषण अग्रवाल के साथ बाहर जा रहे थे। आग्नेयजी मौनी प्रसन्न-मुद्रा में थी। उनसे मिलने का समय तय करने के लिए मैं उन्हें पत्र लिख सकता हूं। अज्ञेयजी अमेरिका से आने के बाद बहुत व्यस्त हैं। धीरे-धीरे कहा : हां, अभी पन्द्रह दिन के लिए, फिर लिखना, पता मालूम कर लेना, जहां भी मैं हूंगा।

अन्त में शमशेरजी से अपने पत्र का जिक्र किया। वे कहने लगे : हां भई, खतों के जवाब न देने की बहुत लोगों को शिकायत है, मगर मुक्तिबोध के जीवन के बारे में तो आप उनकी पत्नी और दूसरे सम्बन्धियों से मिलें। मेरे साथ बात करनी हो तो कविता के बारे में, चूंकि मेरा और

उनका सम्पर्क रहा भी इसी स्तर पर था। बाकी आप आएं।

उपसंहार मुक्तिबोध के 'व्यक्ति' को उनके सही प्रसंगों-सम्बन्धों के माध्यम से पहचानने का मेरा प्रयास कहां तक प्रामाणिक हुआ है, यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु अपने इस प्रयास से मैं स्वयं इस बात से दृढ़तापूर्वक सहमत हो गया हूं कि रचनाकार का व्यक्तित्व अन्ततोगत्वा उसकी रचनाओं से सपृक्त होता है, यद्यपि विश्लेषण के अन्तर्गत रचनाओं के स्वतन्त्र अस्तित्व की अवधारणा को ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

'निवेदित साक्षात्कार' वस्तुतः मेरी शोध-यात्रा के अंगभूत रहे हैं और सुविधा की दृष्टि से ही उन्हें प्रथम रूप में अलग-अलग प्रस्तुत किया गया है। मुक्तिबोध के सम्पर्क में आए व्यक्तियों के समक्ष मेरी प्रारम्भिक जिज्ञासा सिर्फ इन शब्दों में प्रकट होती थी—मैं आपके सम्पर्क में आए मुक्तिबोध के बारे में जानना चाहता हूं? इस प्रकार विषयांतर नहीं हो पाता था, हालांकि अपने सम्पर्क में आए मुक्तिबोध का परिचय देते समय यह स्वाभाविक ही था कि अपनत्व के उस वृत्त में वे स्वयं भी आ जाते थे और तब मुक्तिबोध के व्यक्ति-व्यक्तित्व के साथ-ही-साथ उनके अनुभव और अभिव्यक्ति का स्वरूप भी किंचित मात्रा में समाहित होकर विचित्र नहीं लगता था। भावावेश या और किसी आवेश में कही गई बातों की प्रासंगिकता भी कदाचित् असंदिग्ध है, चूंकि अन्यत्र प्राप्त सन्दर्भों की सापेक्षता में उनकी यथायोग्यता का विश्लेषण सम्भव हो सकता है। यहीं वे बातें भी महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं, जिन्हें बताया तो जरूर गया था, लेकिन शालीनता के विपरीत समझकर उनके लिखित उपयोग की अनुमति नहीं दी गई थी। उन कथनों को पचाकर अमूर्त बनाने में मुझे काफी परेशानी हुई है चूंकि मेरे पेट की नसें बहुत कमजोर हैं, अलबत्ता उनका कीमिया मेरी आंख खोलने में काफी मददगार साबित होता है।

साक्षात्कारों को पुनरावृत्ति से बचाने के लिए सिर्फ नयी जानकारी

का समावेश ही उचित था, इसीलिए कतिपय महत्वपूर्ण सामग्री को, जिसे दूसरे स्रोतों से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है, निर्ममतापूर्वक छोड़ दिया गया है। इसी प्रयास-क्रम में कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के अत्यधिक ज्ञात योगदान से भी 'निवेदित साक्षात्कार' वंचित रह गए हैं। मुक्तिबोध के नाम पर मुझे सभी जगहों से सहयोग मिला है और मेरे मन में सभी के प्रति कृतज्ञता का भाव है। —एम० वर्मा

निवेदित साक्षात्कार

१ : शरच्चंद्र माधव मुक्तिबोध

शंकरनगर, नागपुर : १०-६-१९७० ...जीवन के बारे में? शमशेरबहादुर सिंह ने 'चांद का मुंह टेढ़ा है' की भूमिका में शायद कुछ बातें गलत लिख दी हैं, जबकि दिल्ली में उन्हें ठीक बातें बता दी गई थीं।

हमारे पूर्वज? मैं सुनी हुई बातें ही बता सकता हूं। सुनता आया हूं, वे जलगांव (खानदेश) में रहते थे। मैं वहां कभी गया नहीं। नौकरियों का आकर्षण उन दिनों रहा होगा, हमारे परदादा वासुदेवजी इधर चले आए, फिर वापस वहां कभी नहीं गए। वहां से, हमारी पैतृक संपत्ति, मंदिर आदि के बटवारे की लिखत-पढ़त के मामले को लेकर कुछ लोग कभी हमारे यहां आए थे। जहां तक मुझे मालूम है, हमारी ओर से कोई वहां गया नहीं, हमने कुछ किया नहीं।

जन्म-तिथि के सम्बन्ध में आप रमेश से ज्ञात करें, शायद कोई प्रामाणिक रिकॉर्ड उसके पास हो। 'चांद का मुंह टेढ़ा है' में दी हुई तिथि शायद ठीक ही है।

जन्म-स्थान श्योपुर। मुझे तो पता भी नहीं श्योपुर कौन-से जिले में है। वहां का वातावरण आदि कुछ नहीं मालूम। बात यह है कि हमारे दादाजी और पिताजी दोनों ग्वालियर राज्य के कर्मचारी थे। पिताजी पुलिस महकमे में थे। श्योपुर छोटी सी जगह, वहां पिताजी का तबादला हुआ होगा। वहीं भाईसाहब का जन्म हुआ। मैं, उनसे चार वर्ष छोटा, इन्दौर में जनमा। बस यही क्षेत्र था—इन्दौर और उज्जैन।

उज्जैन की ही मेरी स्मृतियां हैं। नागपुर में तो हम दोनों साथ थे ही।

पिताजी हमारे बहुत दबंग किन्तु अच्छे आदमी थे। भाईसाहब को तो अत्यधिक प्यार करते थे। फ़ारसी उन्होंने पढ़ी थी। ठाठ से रहे, जोड़ा कुछ नहीं। जब रिटायर हुए तो खाली। बाद में उन्हें एक छोटी-सी जागीर में कुछ दिनों के लिए नौकरी भी करनी पड़ी थी। 'चांद का मुह टेढ़ा है' की भूमिका मे पिताजी के सम्बन्ध में प्रायः सभी बातें ठीक दी हैं। 'राजभक्त' की जगह 'कानून के पाबंद' शब्द उनके प्रति अधिक सार्थक हैं। अन्तिम दिनों में बीमार रहे और भाईसाहब से एक दिन पहले ही चले गए।

माताजी (पार्वतीबाई, पिता-पक्ष देशपाण्डे गोत्रीय) हिन्दी क्षेत्र ईसागढ़ के कृषक परिवार की थीं। बहुत ही भावुक, किन्तु खुद्दार। उन्होंने हिन्दी के प्रेमचन्द और मराठी के हरिनारायण आप्टे के नॉवल खूब पढ़े थे। अपनी स्मृतियों का अद्भुत चित्रात्मक वर्णन वह हमें प्रायः सुनाया करती थीं। भाईसाहब पर उनके शब्द-चित्र-कौशल का यह प्रभाव अवश्य रहा होगा। एक बार वह भाईसाहब की बीमारी की खबर सुनकर, उनका अता-पता पूछे बिना ही जबलपुर पहुंच गई थी, और इससे पूछ, उससे पूछ, अंत में उन्होंने ढूंढ ही लिया था। कुछ ऐसी लगन और हिम्मत थी उनमें। भाईसाहब की मृत्यु की बात उन्हें तब बताई जब काम नहीं चला। उसे सुनकर शॉक्ड। मेरे पास थीं, जिद्द करके छोटे भाई बसंत के यहां उज्जैन चली गईं। वहीं हृदय-गति रुक जाने से देहान्त। बहुत दुर्बल हो गई थीं।

हमारे भाईसाहब बहुत अच्छे ह्यूमेन। किन्तु प्रारम्भ से ही अति ... और मित्र-जोड़ी।"'हम पिक्चर देखने जाते। एक बार ... लेकर हॉल पर पहुंच गए। बिना टिकट तो जाते ही थे। ... की वजह से मैनेजर से गड़बड़। भाईसाहब कहें—यह सब अन्याय ... पिताजी तक पहुंचा। उन्होंने समझाया—तुम गलती पर

हो। पर नहीं, वे अड़े रहे।···घर पर मित्र जमा हैं। उनकी चाय के लिए दूध लाने के वास्ते, पिघलते तारकोल की सड़क का खयाल करके मैं एतराज करता हूं। इस पर वह बिगड़ उठते हैं—तुम बुर्जुआ हो!—ऐसी अनेक स्मृतियां मेरे मन में हैं। एक अपने ही किस्म के सीधेपन का भाव भाईसाहब में रहा है।···पिताजी बीमार हैं। दवा लेने, डाक्टर को बुलाने, चदु (चन्द्रकान्त माधव मुक्तिबोध) के साथ भाई-साहब जा रहे हैं। कुछ दूर पैदल चलकर—भई चदु, रिक्शा ले लिया जाए? रिक्शा ले लिया। डाक्टर की दुकान पर भीड़ देखकर—यहां कब तक खड़े रहेंगे! चलो, चाय पी आते हैं। चाय की दुकान पर जलेबियां भी मंगवाईं। जलेबी अपने लिए नहीं। वह नहीं ऐसा कुछ खाते-पीते थे। बस बार-बार चाय और सिगरेट-बीड़ी, यही उनके प्रिय शौक थे। अब चदु बेचारा छोटा, क्या कहे। उसे खिलाए जा रहे हैं—अरे, और खाओ भई। रिक्शावाले को बाहर इतज़ार में तैनात खड़ा किया हुआ है, डाक्टर को साथ ले जाने के लिए। ग्यारह बज गए। पैसे खर्च हो गए ज्यादा, इसका अफसोस। अफसोस मिटाने के लिए घर से बाहर जाकर फिर चाय-वाय और फिर पैसे खर्च, फिर मूड बिगड़ना। यह घटना पीछे चन्द्रकान्त के पास गया था, तब उसने बताई।

लव-मैरेज की। दरअसल कुछ बातें हैं फेमिली की, जिन्हें बताना नहीं चाहता। वे बताने की नहीं हैं। वे आपके काम की भी नहीं हैं। अच्छा, आपको पता चला? बस-बस, यही! यही बना टेंसन। मैंने बहुत बार कहा, समझाया भी कि इसे सुधारा जाए, पर कोई फायदा नहीं हुआ। अब क्या कहा जाए, कई बातें हैं, नहीं बताई जा सकतीं। इधर से कलाकार को वह जो सपोर्ट मिल सकती थी, नहीं मिली—आखिर तक। पत्नी का दोष बताया जाता है, मां का भी, मगर एक्चुअली कौन दोषी था?

मैं कहता हूं, वे आइडियाज में और आइडियोलॉजी में जीते थे। इसके लिए करना कुछ नहीं। बस यही कि सारा जगत् उनकी भावना

उज्जैन की ही मेरी स्मृतियां हैं। नागपुर में तो हम दोनों साथ थे ही।

पिताजी हमारे बहुत दबंग किन्तु अच्छे आदमी थे। भाईसाहब को तो अत्यधिक प्यार करते थे। फारसी उन्होंने पढ़ी थी। ठाठ से रहे, जोड़ा कुछ नहीं। जब रिटायर हुए तो खाली। बाद में उन्हें एक छोटी-सी जागीर में कुछ दिनों के लिए नौकरी भी करनी पड़ी थी। 'चांद का मुंह टेढ़ा है' की भूमिका में पिताजी के सम्बन्ध में प्रायः सभी बातें ठीक हैं। 'राजभक्त' की जगह 'कानून के पाबंद' शब्द उनके प्रति अधिक सार्थक हैं। अन्तिम दिनों में बीमार रहे और भाईसाहब से एक दिन पहले ही चले गए।

माताजी (पार्वतीबाई, पितापक्ष देशपाण्डे गोत्रीय) हिन्दी क्षेत्र ईसागढ़ के कृषक परिवार की थीं। बहुत ही भावुक, किन्तु खुद्दार। उन्होंने हिन्दी के प्रेमचन्द और मराठी के हरिनारायण आप्टे के नॉवल खूब पढ़े थे। अपनी स्मृतियों का अद्भुत चित्रात्मक वर्णन वह हमें प्रायः सुनाया करती थीं। भाईसाहब पर उनके शब्द-चित्र-कौशल का यह प्रभाव अवश्य रहा होगा। एक बार वह भाईसाहब की बीमारी की खबर सुनकर, उनका अता-पता पूछे बिना ही जबलपुर पहुंच गई थीं, और इनसे पूछ, उनसे पूछ, अन्त में उन्होंने ढूंढ ही लिया था। कुछ ऐसी लगन और हिम्मत थी उनमें। भाईसाहब की मृत्यु की बात उन्हें तब बताई जब काम नहीं चला। उसे सुनकर शॉक्ड। मेरे पास थीं, फिर कहके छोटे भाई बसन्त के यहां उज्जैन चली गईं। वहीं हृदय-गति रुक जाने से देहान्त। बहुत दुर्बल हो गई थीं।

हमारे भाईसाहब बहुत अच्छे स्पोर्ट्समैन। किन्तु प्रारम्भ में ही अति व्यक्तिवादी और मित्र-जीवी।...हम पिक्चर देखने जाते।।
पूरी मण्डली लेकर हॉल पर पहुंच गए। बिना टिकट
मण्डली की वजह से मैनेजर से गड़बड़। भा...
है। मामला [illegible] तक पहुंचा...

हो। पर नहीं, वे अड़े रहे।"'घर पर मित्र जमा हैं। उनकी चाय के लिए दूध लाने के वास्ते, पिघलने तारकोल की सड़क का खयाल करके मैं एतराज करता हूं। इस पर वह बिगड़ उठते हैं—तुम बुजुंआ हो !—ऐसी अनेक स्मृतियां मेरे मन में हैं। एक अपने ही किस्म के सीवेयन का भाव भाईसाहब में रहा है।"'पिताजी बीमार हैं। दवा लेने, डाक्टर को बुलाने, चदु (चन्द्रकान्त माधव मुक्तिबोध) के साथ भाई-साहब जा रहे हैं। कुछ दूर पैदल चलकर—भई चंदु, रिक्शा ले लिया जाए ? रिक्शा ले लिया। डाक्टर की दुकान पर भीड़ देखकर—यहां कब तक खड़े रहेंगे ! चलो, चाय पी आते हैं। चाय की दुकान पर जलेबियां भी मंगवाई। जलेबी अपने लिए नहीं। वह नहीं ऐसा कुछ खाते-पीते थे। बस बार-बार चाय और सिगरेट-बीड़ी, यही उनके प्रिय शौक थे। अब चदु बेचारा छोटा, क्या कहे। उसे खिलाए जा रहे हैं—अरे, और खाओ भई। रिक्शावाले को बाहर इंतजार में तैनात खड़ा किया हुआ है, डाक्टर को साथ ले जाने के लिए। ग्यारह बज गए। पैसे खर्च हो गए ज्यादा, इसका अफसोस। अफसोस मिटाने के लिए घर से बाहर जाकर फिर चाय-वाय और फिर पैसे खर्च, फिर मूड बिगड़ना। यह घटना पीछे चन्द्रकान्त के पास गया था, तब उसने बताई।

लव-मैरेज की। दरअसल कुछ बातें हैं फेमिली की, जिन्हें बताना नहीं चाहता। वे बताने की नहीं हैं। वे आपके काम की भी नहीं हैं। अच्छा, आपको पता चला ? बस-बस, यही ! यही बना टेंसन। मैंने बहुत बार कहा, समझाया भी कि इसे सुधारा जाए, पर कोई फायदा नहीं हुआ। अब क्या कहा जाए, कई बातें हैं, नहीं बताई जा सकती। इधर से कलाकार को वह जो सपोर्ट मिल सकती थी, नहीं मिली—आखिर तक। पत्नी का दोष बताया जाता है, मां का भी, मगर एक्चुअली कौन दोषी था ?

मैं कहता हूं, वे आइडियाज में और आइडियोलॉजी में जीते थे। इसके लिए करना कुछ नहीं। बस यही कि सारा जगत् उनकी भावना

के अनुरूप हो जाए। यह कहीं सम्भव होता है? व्यावहारिकता छोड़िए, आइडियोलॉजी के लिए क्या किया? सार्फिस्टिक-कम्युनिस्ट की तरह खुद के लिए सब आराम···मित्र-मंडलिया, चाय-पार्टियां, पर मेम्बर कभी नहीं हुए। आजादी के बाद की बात तो चलो अवसरवाद हो गई, मगर कम्युनिस्ट पार्टी की जो गतिविधियां सन् १६४८-४६ तक थी, वह सब अद्वितीय था। काम करने का अच्छा अवसर था, किन्तु नहीं, आप आइडियोलॉजी की चर्चाओं के सिवाय कुछ भी न त्याग सके। डॉ० जोशी ने ठीक ही कहा है। दरअसल अपनी रौ में उन्हें बहाया गया। इन लोगों के कहने पर ही सदन की हेडमास्टरी से उन्होंने रिज़ाइन किया। वह कानपुर चले गए, इन लोगों के वहां आकर मिलने के वायदे पर। पर ये यहीं अटके रहे। डॉ० जोशी—वह तो डी० लिट्० थे, उखड़-कर दूसरी जगह जम ही गए, मगर नेमिजी और भाईसाहब क्या करते रहे? कहां गए?

भाईसाहब डिसिप्लिंड शायद ही रह सके। यह इनडिसिप्लिंड उनकी पोयट्री में भी है। मैं कहता रहा—यूं आप चाय के सहारे दो-दो, चार-चार दिन भूखे रहकर कैसे चलाएंगे? ऐसे तो दस साल भी न पकड़ोगे। वह माने नहीं। और···और फिर वही हुआ। बहुत बार सिचुएशन खुद क्रिएट करते थे, उससे फेस दूसरे। होता यह था कि वह घरेलू मामलों पर तो बात भी करना मुनासिब नहीं समझते थे। हां, आप ठीक ही कहते हैं, वह उन्हें जान-बूझकर अवॉइड करते थे। सुनकर उन्हें ठेस पहुंचती थी और विशेष कुछ सुधार करने की ओर उनकी गति थी नहीं।

दोस्त उन्हें अलबत्ता अच्छे मिले। रहे वे सब उनसे प्रभावित ही। साहित्य उन्होंने बहुत पढ़ लिया था। वह बहस में किसी से हारना पसंद नहीं करते थे। उनसे बहस करना आसान नहीं था। वे सब उन्हें बस सुनते थे। उनकी बहसें लाजवाब होती थीं। दायरा भी बहसों तक [illegible]। था। वे औरों को प्रभावित करके ही छोड़ते थे। किंचित् मत-

भेद भी उन्हें असह्य था। अत्यधिक अधीरता आत्म के ही प्रति उनकी थी। सैद्धान्तिक चर्चा उनसे कभी नही हुई। न कला विषयक, न राजनीति विषयक। उनकी हा में हा मिलाना, उनका एलोनोलॉग सुनना काफी तकलीफदेह होता था। ज्ञान से वे प्रेरणा पाते थे। इसीलिए वे स्कॉलर किस्म के नहीं थे।

वे प्रायः विरोध सहन नही कर सकते थे। मेरा अनुभव तो यही है। विरोध की स्थिति में वह अलग हो जाते थे। नौकरिया छोड़ने के पीछे भी यही हुआ। काम वह पूरी लगन से करते थे, किन्तु ज़रा-से विरोध पर चिटक जाते थे। रेडियो की नौकरी छूटी नही, स्वय छोडी। नागपुर छोड़कर भोपाल जाना वह स्वयं नही चाहते थे। कुछ बहुत अधिक थकान रही होगी। बाद में 'नया ख़ून' से भी अलग हो गए···झगड़ा वही अपने-आपको एडजस्ट न कर पाने का होगा।

नेमिजी उनके घनिष्ठ थे। माचवेजी ने भी उनके लिए बहुत-कुछ किया। किया और मित्रों ने भी। आर्थिक सहायता वे किसी से कैसे लेते? मैं कभी नही कहूगा कि मित्रों ने उन्हें 'चीट' किया, उलटी मदद की। और आखिर मे जो मान दिया वह तो रेअर है। वैसे हिन्दी मे इस तरह की भक्ति-भावना है भी। आप यह ठीक ही पूछते हैं कि जीवन-काल मे किसी ने उनका साहित्यिक मूल्याकन क्यों नहीं किया? आर्टिस्ट के तौर पर जो अब किया गया, वह पहले किया जा सकता था।

और भी कई भाईसाहब पर रिसर्च कर रहे हैं। एक सज्जन शायद चंडीगढ़ के हैं, नाम नही मालूम। एक शायद जयपुर विश्वविद्यालय में। वह महिला मेरे पास आयी थी। चडीगढ़ वाले सज्जन ने भाईसाहब के दारिद्रय का ऐसा भयानक रोमाचकारी वर्णन किया है कि दया आती है। गरीबी, बीमारी कहा नहीं है हिन्दुस्तान मे? अच्छी हैसियत वाले और सामान्य वेतन वाले लोग उनके दारिद्रय से बड़े चकित-चकाचौध हो जाते। उस सम्बन्ध मे बड़ी गूढ़ भावनाए लोगों की रहीं। अगर जान-बूझकर दारिद्रय को स्वीकार किया होता और समझौतो से बचे होते

लो रहा है वह आत्मिक चैतन्य और प्रसन्नता जो ऐसे जीवन में ही पनप
सकती है ? समझौता कहीं बहुत गहरे में रहा होगा। एक विचित्र-सा
सवाल भी किया कि क्या सरोज भूखों मर गई ? यह सब अपने-आप में
सलन है। यहां ऐसी निम्नमध्यवर्गीयता कहीं नहीं थी, जिसे काव्य की
प्रेरक कहा जा सके। यह विचारणीय है कि मार्क्सवाद को आत्मसात
कर लेने पर भी भाईसाहब की जो रचनाएं 'तारसप्तक' में सकलित
हैं, उनमें अत्यधिक निराशा भी है। तब उम्र में छोटे ही थे। चौबीस
साल के रहे होंगे। मुझे यह छायावादी प्रभाव लगता है। उनकी पोयट्री,
जो अद्भुत है, छायावाद का ही अवतार है। जहां तक बावड़ी, खण्डहरों
के चित्रण की बात है, आप उसे उज्जैन के वातावरण का प्रभाव मान
सकते हैं। वहां ऐसे अनेक स्थान हैं। वहां का वातावरण उनके अद्भुत
के प्रति आकर्षण का पोषक रहा है, इसलिए वह, उसके मुताबिक,
उपकरण के रूप में ग्रहण किया गया है।

वे कॉन्शस कलाकार थे भी और नहीं भी। उनमें विश्लेषण है,
बौद्धिकता भी है। एक टेंसन भी बराबर है, जो खुद की बनाई सिचुएशन
से, युग-बोध से और घर के माहौल से आया। अकेलेपन का भाव भी
इन्ही सब कारणों से मौजूद रहा है। मौलिकता उनके सृजन की
विशिष्टता है, जिसके प्रति वह प्रयास की सीमा तक सजग रहे हैं।
लेकिन वे अपने अनुभवों के अर्थों तक नहीं पहुंच पाए, ऐसा मैं मानता
हूं। अपने से उनका अलगाव वे कर नहीं पाते थे।

वह और मैं ? हां, हम साथ रहे, बड़े, कई बार एक-सा साहित्य भी
पढ़ा, इस कारण हममें कहीं कुछ गहरा साम्य है, किन्तु वृत्तिगत भिन्नता
स्पष्ट है। हममें वृत्तियों की भिन्नता है—शुरू से आखिर तक। यह
आपके अपने अध्ययन और रुचि-अभिरुचि का प्रश्न है कि दो सगे भाइयों
के संदर्भ में प्रथम कोणों की तह का विश्लेषण करें—मुझे इस विषय
में कुछ नहीं कहना है। न इसमें रुचि है।

भाईसाहब की कविताओं [illegible] और बिम्ब कुछ तो बिलकुल

साफ-सुथरे और सरल हैं, जटिलता जहां है या अतिरिक्त-से वे जहां कहीं-कहीं लगते हैं वह पर्टिक्युलर ओवरपलों के कारण। सृजन-प्रक्रिया और साइको-एनालेसिस के द्वारा उनकी सार्थकता सिद्ध की जा सकती है। तब उनके अर्थ की संगति भी बैठती है। कतिपय चित्रण मानसिक-संश्लिष्टता को अभिव्यक्त करते हैं। अतल उनके काव्य में एक बड़ा धुंधला वातावरण है, जिसमें हताशा और घिराव की वाष्प-छाया है, आशा के स्फुलिंग मात्र हैं, निराशा के कोण पर कोण उभरते हैं पर आशा का उद्दाम नहीं—कहीं भी तो नहीं। आग्रह लेकर उन्हें यह पक्ष देना कि यह सब निम्नमध्यवर्गीय सफरिंग का परिणाम है, एकदम गलत होगा। उनके व्यक्तिगत जीवन में यह सफरिंग कहां थी? वस्तुतः वह घोर व्यक्तिवादी थे, विशेषतः अपने जीवन में। यह व्यक्तिवादी भाव उनके काव्य में प्रगट हुआ है। व्यक्तिवादी का अहं भाव काव्य में जबरदस्ती दबाते हुए भी प्रखर होकर उभरा है।

यहां नागपुर में आप मिलिए 'नवभारत' के संपादक शैलेन्द्रकुमार से। दिल्ली में घेई साहब से। वे बिरला क्लॉथ मिल में हैं, नेमिजी उनका पता बता देंगे।

पूरकता : हां, कोर्स में लगकर भी वह पुस्तक—'भारत इतिहास और संस्कृति'—जब्त हुई। उसमें गलत कुछ भी न था। किन्तु, राजनीति कारण बनी, निहित स्वार्थ थे। इससे वह अत्यधिक शॉक्ड हुए। वैसे गलत आन्दोलन हुआ था, तो उसे फेस करना चाहिए था। मगर नहीं, कुछ शक्ति भी कम हो चली थी, अंदर से टूट गए थे।

उनके उज्जैन से शुजालपुर चले जाने पर हम अलग हो गए। नागपुर में पुनः एक लम्बी अवधि तक साथ रहा। हमारे माता-पिता अपनी इच्छानुसार कभी किसी भाई के यहां, कभी किसी के यहां रहते थे। इसमें क्या विशेष जानने योग्य है?

देखिए, एज ए ह्यूमेन बीइंग उनमें अनेक बातों के बावजूद ग्रेटनेस के लक्षण थे, कभी कोई अपराध उनका नहीं था। वे एक सतह पर एक-

दम निश्चिन्त किस्म के आदमी थे। बालक की सिधाई तथा जिद्दीपन, अनुभव की गहराई और कलाकार की उड़ान उनमें थी। अगर अंतरंग मित्र उनकी, समझदारी से भरी, प्रखर आलोचना करते, तो बहुत अच्छा होता। ऐसा हुआ भी होगा। मुझे पता नहीं।

उनके फ्रेंड-सर्किल से मैं प्रायः अलग ही रहा हूं। वह सर्किल छोटा-सा था, कहिए उन्हीं का अपना ग्रुप। उसकी लीडरी उन्हें प्राप्त थी। वैसे मित्रों ने उनके काव्य को क्या दिया? सराहना!

हां, सब ठीक-ठाक ही है। रमेश अपना उत्तरदायित्व निभा रहा है। मां के साथ नहीं रहता, यह उसकी अपनी समस्या है। छोटा होनहार है, बी. एस-सी. में है। और बातें आप रायपुर जाकर स्वयं जानेंगे। रमेश की पत्नी टीचर है। काम सब ठीक ही चल रहा है।

११-६-३०. हां साहब, शुरू कीजिए। आपके सिनॉपसिस में जीवन और व्यक्तिगत शीर्षकों की सार्थकता को छोड़कर बाकी सब ठीक है, बहुत अच्छा है।

जीवन के बारे में सिलसिलेवार स्मृतियां क्या बताऊं? उनके काव्य को ही आप क्यों नहीं लेते? अच्छा, फिर आप अपने ज्ञात जीवन-वृत्त को ही लें, कल की बातों के अलावा अपनी बातें जोड़ता, स्पष्ट करता चलूंगा।

'मुग्ध-बोध' शायद दक्षिण में व्याकरण-सम्प्रदाय था, यह मैं अपनी सोच में कह रहा हूं, आप इसे प्रामाणिक मत मानिए। इस पर मैंने कभी विशेष तवज्जो नहीं दी। 'मुक्ति-बोध', मैं समझता हूं, महाराष्ट्र में हमारे ही परिवार का सरनेम है। 'मुक्त-बोध' ग्रंथ के बारे में मेरी कुछ जानकारी नहीं है। 'मुक्त बोध' के आधार पर 'मुक्तिबोध' मुझे बैठाया हुआ जोड़-तोड़ प्रतीत होता है। हां, वैसे हम लोग कुलकर्णी हैं।

हमारे परदादा वासुदेवजी मुक्त पहले जलगांव से ग्वालियर रियासत में आए थे। मैंने उन्हें देखा नहीं, बड़ों से उनके बारे में सुना है कि वह अपने साथ ज्ञानेश्वरी लाए थे, यह उन्हें नर्मदा में स्वप्नदर्श।

के फलस्वरूप प्राप्त हुआ था। यह धार्मिक श्रद्धा है कि उस शिवलिंग का रंग बदलता रहता है। छोटा भाई चन्द्रकान्त हममें कुछ ज्यादा पूजा-पाठी है। शिवलिंग आजकल उसी के पास है। उसकी वैज्ञानिक जांच होनी चाहिए।

तब ग्वालियर ग्यारह जिलों की बहुत पुरानी स्टेट थी। राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम के दिनों में ब्रिटिश-इंडिया और ग्वालियर राज्य की स्थिति में बहुत ज्यादा अंतर था। आन्दोलन का वैसा रूप या जागरण का वह स्तर ग्वालियर राज्य में नहीं था। ग्वालियर राज्य के टोंक गांव में हमारे दादा (गोपालराव वासुदेव) दफ्तरदार (ऑफिस सुपरिटेंडेंट) थे। उन्हें फारसी का अच्छा ज्ञान था और वह मुंशीजी कहलाते थे। उनके और भाई थे, सुना है वे विरक्त थे, मुझे इसकी खास जानकारी नहीं है। वंश-परंपरा सूचक कोई रिकॉर्ड हमारे यहां उपलब्ध नहीं है। पिताजी एस. आई. थे। रियासत में एस. आई. प्रायः कोतवाल कहलाता था। कार्य-क्षेत्र की भिन्नता के कारण दादाजी पिताजी से अलग रहे भी होंगे, मुझे तो दादाजी के रिटायर होने की बात ही याद है। तब से देहान्त तक वह बराबर पिताजी के साथ ही रहे।

पिताजी जीवन-पर्यन्त हुकूमत के कानून के पक्षधर रहे। रियासत की नौकरी में ही वह राजभक्त नहीं थे, आजादी के बाद भी वह कानून की पाबंदी को महत्त्वपूर्ण मानते रहे। वह इस सिद्धान्त के कायल थे कि व्यक्ति को राज्य के कानून का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यूं अंग्रेजी जमाने में भी वह गांधीजी का दिल से आदर करते थे और अपनी नौकरी के आरंभ में तिलक का 'केसरी' मंगाया करते थे, किन्तु यह बात का दूसरा पक्ष है। और यह सब फैक्ट है, मैं उनके व्यक्तित्व को अतिरिक्त रंग देने की नीयत से नहीं कह रहा हूं। आप कहीं भी अनावश्यक ताल-मेल मत बैठाना। हमें साहसपूर्वक सत्य का सामना करना चाहिए। रंगीला असत्य सरल सत्य के समक्ष भद्दा लगता है, अप्रकृत तो वह होता ही है।

पिताजी बहुत अच्छे किस्सागो थे। रोचकतापूर्वक किस्से भी सुना देते। अनुभव बयान करते, और इस बात में वे बहुत समृद्ध थे, तो प्रत्यक्ष दृश्य का अनुभव होता था। एक फ़ारसी का किस्सा जब वे सुनाते थे, तब वैसा सारा दृश्य आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो उठता था। उनमें आध्यात्मिक किस्म की दृढ़ता थी, कहिए उनकी दृढ़ता को आध्यात्मिक संबल प्राप्त था। भाईसाहब की बीमारी का उन्हें पता था, भोपाल और दिल्ली ले जाए जाने का भी। हमें उदास देखकर, अपनी रुग्णावस्था में ही, वे धैर्यपूर्वक पूछते थे : अरे, वह चला गया क्या? अंतिम रात को हम सब उनके पास बैठे थे। कहा, जाओ अब आराम करो। वह कहा करते थे, वेदान्त-विधि से मंत्रों का उच्चारण करते हुए प्राणों का त्याग किया जा सकता है। और रात ढलते-ढलते हमने देखा, वह चले गए थे।

हमारी माँ ईसागढ़ (बुंदेलखंड) के समृद्ध किसान परिवार की थी—हिन्दी वातावरण में पलीं और उस जमाने की छठी कक्षा तक पढ़ी हुई। विद्यार्थी जीवन में अपनी शैक्षणिक योग्यता के कारण उन्हें सौ रुपये का इनाम मिला था। वे सुनाया करती थीं, कैसे उनका सारा परिवार समृद्ध था। दूध-दही की नदी बहा करती थी। कैसा भरपूर गोधन था। हरिनारायण आप्टे और प्रेमचंद उनके प्रिय लेखक थे। उन्हें वह अंत तक पढ़ती रहीं। मां का देहान्त पिताजी के एक वर्ष बाद हुआ। ठीक तिथि पत्र द्वारा पूछ लेना।

भाईसाहब से मैं चार वर्ष छोटा हूं। हमारी शिक्षा-दीक्षा व्यवस्थित रूप से उज्जैन में हुई। शुरू से ही भाईसाहब हिन्दी माध्यम लेकर चले और मैं मराठी। इसे आप मराठी का ही प्रभाव समझिए कि मैं सदैव भाईसाहब का आलोचक रहा। हिन्दी में जब छायावाद का दौर था तब मराठी के रोमांटिक कवि जा चुके थे। बंबई के कारण मराठी पर अंग्रेज़ी साहित्य की नवचेतना का प्रभाव जल्दी आया, हिन्दी ने उसे बहुत बाद में ग्रहण किया। यह एक प्रमुख कारण है कि हिन्दी की

होता। आजकल वे अब रिटायर हो चुके हैं। उनकी एक लड़की ने एम. ए. कर लिया है। पीछे उज्जैन गया था, तब उनसे मुलाकात हुई थी।

माधव इन्टर कॉलेज, उज्जैन से भाईसाहब ने इन्टर किया। डा. मिडिल में वे एक बार फेल हुए थे। घर में वह विशिष्ट समझे जाते थे। उनके परीक्षा में सफलता प्राप्त करने पर घर में उत्सव मनाया जाता था, तब उन्हें बड़ा मान मिलता। प्रतिष्ठित कवि रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' माधव कॉलेज में प्राध्यापक थे। भाईसाहब पर कभी उनका पूरा-पूरा प्रभाव रहा था। उन्होंने ही, मैं समझता हूँ, भाईसाहब की पहली रचना [illegible] में छापी थी। बाद में तो वे रहे ही नहीं, भाईसाहब का रुख भी अब बदल चुका था।

मेरी पहली रचना एक हिन्दी की पत्रिका में छपी थी। तब मैं नवीं का विद्यार्थी था। जब उस प्रकाशित रचना को मैंने भाईसाहब के सामने पेश किया तो वे गर्म हो गए—मुझसे पूछे बिना क्यों छपने भेजी ? फिर भी मैं बिना उनकी अनुमति लिए लिखता रहा और छपाता भी रहा। मेरी पहली कहानी में एक बच्चा है, उसकी बहन मर जाती है, जिसे वह भुला नहीं पाता है। उसे बहला दिया जाता है कि उसकी बहन बाहर गई हुई है। दूसरा बच्चा पैदा होने पर उसे ही उसकी बहन बतला दिया जाता है। इस तरह की वह कहानी थी। हमारी भी एक बहन थी, जिसकी मृत्यु किशोरावस्था में ही हो गई थी। मैं कई बार तो शर्त लगाकर लिखता था। भाईसाहब के सामने मेरी कोई गिनती नहीं थी। वैसे आप चाहें तो मेरा 'क्षिप्रा' (१९५४) उपन्यास पढ़ें। उसके कुछ सवादों की तुलना 'एक साहित्यिक की डायरी' के सवादों से करके देखें।

इन्दौर से उन्होंने बी० ए० किया। वहीं वीरेन्द्रकुमारजी जैन से उनका परिचय हुआ। वह सहपाठी रहे होंगे, मुझे इसका पता नहीं है। रोमांटिक आदर्श के अपने ढंग के कवि थे, अभी तक उनकी अपनी लाइन है। भाईसाहब वीरेन्द्रजी की बहुत तारीफ किया करते

थे—अरे साहब, वीरेन्द्र का किसी से क्या मुकाबला, बस पूछिए मत ! यहा एक बात और बता दू, भाईसाहब इन्दौर छोडकर चले गए थे। और बाद मे मैं होलकर कॉलिज पहुचा। वहा वीरेन्द्रजी से परिचय हुआ। उन्होंने मेरी हिन्दी कहानियो को पढा और कृपापूर्वक मार्गदर्शन किया। यहा इतना ही ठीक है, बाद मे और विस्तार से इस बारे मे लिखना है। पहले वीरेन्द्रजी हमारे यहा आते रहे थे। मैं भाईसाहब के मित्रों से कोई खास वास्ता नही रखता था। अज्ञेयजी उन दिनों चर्चित थे।

प्रेम-प्रसग के विषय मे मैं क्या बता सकता हू ? इन्दौर मे भाईसाहब हमारी आट के यहा रहते थे। वही, पास ही, शाता भाभी भी रहती थीं। अरिचय-परिचय हुआ होगा। प्रेम पनने पर शादी की बात चली। हा, विरोध इसलिए हुआ कि वे तब अस्तमा की मरीज थीं। वह कोई अन्तर्जातीय विवाह नही था। भाभी मराठी ब्राह्मण परिवार की हैं। और बातें आप उनसे ही पूछिए। वह मेरी भाभी है, बडी है, मैं क्या कह सकता हू ? विवाह इन्दौर मे विधिवत् सपन्न हुआ था। शादी से लौटते समय की जिस घटना का जिक्र मैंने अपने सस्मरण मे किया है, वह उनके मूड की बात थी। विलायतीराम घेई मे आप इस सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक पूछें।

शारदा शिक्षा सदन, शुजालपुर मे मैं कुल दो या तीन महीने तक भाईसाहब का सहयोगी रहा। फिर मॉडल स्कूल मे शिक्षक बन गया। प्रैक्टिस भी शुरु की, वैसे चाहता मैं कही लेक्चरर होना था। भाईसाहब बनारस चले गए थे। 'हस' छोडने का स्पष्ट कारण मुझे मालूम नही है। एडजस्टमेंट का ही झगडा होगा। जमते कहां थे जो वहा टिके रहते।

जबलपुर से अध्यापक भाईसाहब का मुझे उज्जैन मे तार मिला कि चला आऊं, लेक्चरर की पोस्ट है। उनके विश्वास पर मैं अपना बोर्ड उतारकर वहां पहुच गया। किन्तु वहा वैसा कोई प्रबन्ध नही

था। भाईसाहब ने किसी और का विश्वास किया था। अब मेरी स्थिति विचित्र ! वापस कैसे जाता, महाराष्ट्र हाई स्कूल में टीचर बन गया। भाईसाहब जैन हाई स्कूल में थे। यह हमारी मास्टरी का दौर था।

'समता' निकालने की बात बहुत रोमांटिक है। बसंत पुराणिक के सम्बन्ध में यह था कि वे बहुत पैसेवाले हैं। उनकी स्थिति कैसी भी रही हो, काम शुरु हो गया। एक ही अंक बाहर आया, दूसरा प्रकाशक ने जब्त कर लिया कि पैसे लाओ। पुराणिक महोदय पैसे की व्यवस्था करने बंबई पहुचे। वे ठीक ही कहते होंगे कि बंबई से लौटते हुए रास्ते में उनकी जेब कट गई थी। इस प्रकार सब कुछ छोड़कर वे मद्रास चले गए। अब वहा सपरिवार सकुशल हैं। 'समता' के संचालन में भाई-साहब की लगन बेजोड़ थी।

नागपुर में भाईसाहब से निकटता रही, वैसे रहते हम अलग-अलग ही थे।

एम० ए० करके भाईसाहब राजनादगांव चले गए। वहा के विवरण के लिए आप मेरा संस्मरण पढ़ें। अब हमारी अलग-अलग दुनिया थी। वहां उनका अपना सर्किल रहा होगा। आनेक्काजी से मैं कभी नही मिला। जब वे भाईसाहब से मिलने राजनांदगाव आयी थी, पिताजी वही थे। कुछ अतिरंजित-सा सुनने मे आया है उनकी मुलाकात के सम्बन्ध में। आपने भी कुछ सुना ? नही, तो चलो छोड़ो। हर बात को लोग रंग दे देते हैं। उनका शिकार न हुआ जाए तो अच्छा।

अब आपके बताए अतर्विरोधों को लेते हैं। भाईसाहब के व्यवहार मे सामंतीय ठाठ का हल्का-सा रंग था। इसे आप सामंतीय एटीच्यूड कह सकते हैं। पिता के राज मे जरूर ठाठ थे, यद्यपि सामंत पिताजी भी नहीं थे। उनके कारण सामंतो-जैसा ठाठ जरूर रहा। वही व्यक्तित्व के अंग बन गए होंगे। पिताजी के रिटायर हो जाने पर अर्थाभाव की दुर्दशा अनुभव की गई—कुछ तो सामंतीय एटीच्यूड के कारण, कुछ परिस्थितिजन्य। जैसा आपने कहा था, वह अपनी व्यक्तिगत बातें प्रायः

मन में ही रखते थे, दूसरों के सामने प्रकट करने में उन्हें कोई तुक नजर नहीं आती थी। गरीबी के प्रति, शोषण के प्रति और मार्क्सवाद के प्रति उनकी सहानुभूति बौद्धिक थी। उसकी सापेक्षता का यही सत्य है कि बौद्धिक सहानुभूति उनमें बहुत गहरी थी। कर्म के पक्ष में आप 'जनमंच' शब्द की जगह 'आत्मप्रवचन' शब्द का प्रयोग करें। आत्म-प्रवचना उनके भोले भाव का अंग थी। वस्तुतः वह खालिस कलाकार थे, मूड में कम्युनिस्ट या जो भी रहे हों।

समझौता न उन्होंने स्वास्थ्य के नियमों से किया, न अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से। क्या यह विद्रोही का लक्षण है? व्यक्तिशः वे आइडियलिस्टिक थे, पैक्चुअल नहीं। विचारतः बौद्धिक और विश्लेषक। इस प्रकार एक टेंशन बनता था, सेल्फ एलिएनेशन घेरता था। सशय? हां, वह था उनमें। कारण, सब मूडगत। उनमें अतिशय भावुकता थी। वे बहुत जल्दी एक्शन लेते थे। इस प्रकार दृष्टि में परिवर्तन आता रहता था। काम करने की चाह उनमें थी। पार्टी का काम करने राहुलजी के पास वह बबई तक गए पर वहां टिके नहीं। राहुलजी भाईसाहब को आठ-आठ घंटे डिक्टेशन देते। यह हुई क्रिएटिव माइंड की दुर्गति, इसलिए वहां कम छुट्टियां बिताईं और वापस! पार्टी में काम करने के इरादे से मुझे कानपुर भेजा गया। भाईसाहब ने मुझे गाड़ी में बिठाकर छुट्टी पायी। मैं पार्टी-दफ्तर में घुसने भी न दिया गया। मेरी कोई जान-पहचान नहीं थी और विश्वसनीय हो पाना वहां बहुत कठिन था। मैं वापस चला आया। उन दिनों पार्टी में काम करना लाइफ-एण्ड-डेथ का प्रश्न था। यह नहीं कि बैठे-ठाले चाय पी जा रही है, गप्पें लड़ रही हैं, प्रोग्राम बन रहे हैं। मैं यहां साफ कहता हूं, भाईसाहब रोमांटिक कलाकार थे। कर्मपक्ष उनमें बहुत दुर्बल था। मार्क्सवाद के प्रति उनकी रुझान भी रोमांटिक किस्म की थी, अन्यथा उनका योगदान क्या है? इस बात का मतलब यह न लगाया जाय कि मैं उनसे भिन्न हूं, या कि मैंने उनमें अधिक काम किया है। मेरी तुलना में तो उन्होंने—किसान

ट्रेड-यूनियन काम न सही—बहुत अधिक काम किया है। लेकिन मैं उन्हें अपनी कसौटी पर नहीं कस रहा हूं। रोमेंटिसिज्म में मैं मुक्त हूं, ऐसा भी दावा नहीं है। बात कुछ दूसरी भूमिका से, दूसरी सतह पर चल रही है।

युग-सापेक्ष वैज्ञानिक दृष्टि और मालवा का मोह—इसमें अंतर्विरोध आप कैसे मानते हैं? मुझे खुद उज्जैन जाने पर वहां के अपने पुराने मकान और उसके वृक्ष की छाया देखकर मोह-सा उपज उठता है। यह तो मानवीय स्वभाव की बात है। यह गलत धारणा है कि मालवा ने अपने लाड़लों को अपनाया नहीं। मालवा के पास ऐसा क्या है देने के लिए? वहां सब ओर निर्धनता है, जिसे अपनाने के लिए साहस चाहिए। बुद्धिवादियों की बात वह समझ भी नहीं पाता था। पहले तो अनजानी भाषा में आप बात करें और फिर तैश खाकर सोचें—दाद नहीं दे रहा है, समझ नहीं रहा है। मालवा प्रेम दे सकता था तो बंधु को बहुत दिया, खास तौर पर उनका भाषा-सामर्थ्य।

भाईसाहब में उदारता थी, यह माना जा सकता है। काम वह खूब करते थे। नौकरों के साथ बर्तन से लेकर, अपने-आपको सर्वहारा मानने तक उनकी अपने ही ढंग की गति थी। लेकिन सर्वहारा वर्गीय वे हर्गिज नहीं थे, न हो सकते थे। सामने से टक्कर देना उनके स्वभाव में था ही नहीं। मूड जमे रहने तक वह बाल्टी में स्वयं पानी ढो लेते थे, फटेहाल रह सकते थे। स्थिति यह रही है कि इधर घर में बुरा हाल है, उधर मित्रों में खर्च हो रहा है। मिच्युएशन का जिम्मेवार आदमी स्वयं हो और उसे झेलने के नाम पर यह कहे कि हम पीड़ित हैं, तनाव जी रहे हैं, कुछ अजीब लगता है। वह अधिकतर आन्तरिक जीवन जीते थे। इससे यह मत समझिए कि परिवेशगत प्रभाव उनकी कविता में नहीं है। घर में उनकी अपनी विचित्र स्थिति का प्रच्छन्न [illegible] वहां भी है। यह सूक्ष्म विश्लेषण का विषय है। उनकी कविताएं [illegible] के अतिरिक्त और क्या हैं? आत्मग्रवंचित व्यक्तित्व की

मर्फरिंग का ही वातावरण वहां सर्वत्र व्याप्त है। भयंकर षड्यंत्र, यातना, घेराव, अराजकता और वक्तव्य की पुनरुक्ति, विशृंखलता, लेकिन अनुभवों की अनेक श्रेणियां उसमें मिलती हैं। वक्तव्य की सपाटता उनकी कविता का अंग बनकर प्रस्तुत है। यह अभिन्नता ही स्पष्ट वक्तव्यों को सौंदर्य प्रदान करती है, यही उनकी शक्ति है और इन्हीं में निहित है उनका जीवन-दर्शन। वे जीवन-दर्शन के संदर्भ में अपने व्यक्तित्व के बारे में जितने जागरूक थे, उतने अपने अनुभव को अपने से अलग करके और उसका अर्थ समझने के बारे में नहीं।

मेरी इच्छा है, आप अप्रभावित रहकर विश्लेषण करें। वैसे मेरा खयाल है, आप ठीक लाइन पर चल रहे हैं। और क्या पढ़ना है? इलियट का अध्ययन जरूर करें। फिर आइएगा, परसों सुबह। वैसे सब-कुछ हम डिस्कस कर ही चुके हैं। एक फॉर्मल मीटिंग ही उस दिन होगी। वे दिवंगत हैं, याद ताजा हो जाती है, दुःख होता है।

१३-६-७० : अपने 'चांद का मुंह टेढ़ा है' के अनुवाद की प्रस्तावना मैं अब स्वयं लिखूंगा। यह आपने कैसे अंदाजा लगाया कि मेरे प्रतिपादन में आग्रह होगा? मेरा अपना दृष्टिकोण है, मैं निरंतर पढ़ता-लिखता हूं। हां, लिखूंगा स्वान्तःसुखाय ही, मुक्तभाव से, श्रद्धा-ग्रस्त होकर कदाचित् नहीं। हिन्दीवालों को वह रुचे या न रुचे, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। अपने संशय को आप इस तथ्य से दूर कर लें कि आखिर कोई बात ही होगी जो मैंने अनुवाद किया है। उन्हें अन्याय करने की बात मैं सोच भी नहीं सकता।

यह मैं फिर कहता हूं कि भाईसाहब और उनके तत्कालीन दोस्त हवाई जिन्दगी जीते थे। संत्रास कहां था? वह किनसे संत्रस्त थे? जहां तक मुझे ज्ञात है, पब्लिसिटी डिपार्टमेंट में जो ऊंचे पदों पर थे, सब उनका आदर करते थे, उनको मान्यता देते थे। यही वे कर सकते थे। अपनी प्राप्त कुर्सी तो उन्हें समर्पित की नहीं जा सकती थी। आकाशवाणी में भी सभी बड़े-छोटे उन्हें मान देते थे। असल में भाईसाहब को

विरोध महसूस करते रहने का अजीब नशा था। बैठे-ठाले यह समझना-समझाना कि दुनिया हमारे पीछे पड़ी है, हम पर पुलिस की आँखें हैं, अपना पिण्ड अनुभव करना, अपने विचारों के विद्रोहीपन से शोषकों को सतर्क हो उठे मानना—सब अहं के मोह का प्रच्छन्न भाव है। हाँ, 'नया खून' में भाईसाहब लिखते थे, जिसे कुछ लोगों ने अपने ऊपर अटैक माना होगा। पूँजीपतियों से सीधा टकराव कहीं नहीं था। धमकी किसी ने कभी यूँ ही दे दी होगी। भाईसाहब इमोशनल थे, इस स्थिति को असुरक्षा समझकर सीरियस ले लेते थे। यह स्वाभाविक भी था। जैसा कि मैंने पहले भी संकेत दिया था, उनमें भोलेपन का विचित्र-सा भाव रहा है।

उनकी एक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की मनोभूमि थी। कलाकार की उसी सतह पर वह प्रायः रहते थे। उनकी एक बार की रुग्णावस्था का मैंने अपने संस्मरण में जिक्र किया है। इस प्रकार वह अपनों के प्रति निर्मम होते थे। भाभी बीमार हैं तो बाहर चले जाते कि चलो ध्न दूर हुआ। वह यह सब आँखों के सामने नहीं भुगत सकते थे। ऑस्मोस्कीयन लाइफ अपने-आप कैसे दूर होती? यूँ आँख फेर लेने से तो हीं ही।

आपने शैलेन्द्र से यह अच्छा प्रश्न पूछा। चलो, वह ठीक थे, उनकी वचारधारा क्रांतिकारी थी, उसका विरोध हुआ, वह डटे रहे, मगर न क्या हुआ? उपलब्धि क्या हुई? यह कि हमारा घिराव है, हमें ख़तरनाक समझा जाता है। चलो, चाय पी लें, बहसें करें?

'वीणा' में प्रकाशित मदारियाजी के 'गजानन माधव मुक्तिबोध : ीढ़ी और साँप का खेल' संस्मरण में आरोपित दोषों का कोई न कोई ाधार अवश्य रहा होगा। उदाहरणार्थ, किसी ने विश किया, जिस पर नका ध्यान नहीं गया होगा और कोई बुरा मान गए होंगे। वरना भाईसाहब तो मिलनेवालों को छोड़ते नहीं थे। चार-चार घंटे डिस्कसन ा इंवॉल्व कर लेते थे।...किसी की पांडुलिपि उनसे गुम गई होगी, यह

भी ठीक हो सकता है। दरअसल ऐसी सावधानी उनमें नहीं थी। पाडुलिपियां तितर-बितर पड़ी रहती थीं। किराए की साइकिलें तीन-तीन दिन घर पर पड़ी रहती थीं। उनका किराया चढ़ता रहता था। साइकिलवाले उनकी आदत से वाकिफ थे। सब वसूल कर लेते थे। यू भाईसाहब बहुत सीधे और सच्चे थे। एक लापरवाही-सी उनमें थी।...मंगल-सूत्र गिरवी रखने की बात विचित्र है। हां, पैसे की उन्हें तंगी रहती थी। जरूरत पर पैसा प्राप्त करने के लिए वह कुछ भी जोड़-तोड़ कर सकते थे।

नयी शुक्रवारी में मैं भी उनके आस-पास रहता था। वह जगह सड़ी-गली थी। एक लिहाज से वह जगह कलाकार की दृष्टि से पिक्चर्सक्यू भी थी। जुम्मा टैंक पर हम सब घूमने जाते थे। मस्त हवा होती थी। कवि-हृदय के लिए वह वातावरण फैंटास्टिक होता था। अपना कच्चा मकान भाईसाहब ने बहुत बाद में बदला। बदल पहले भी सकते थे, मगर मकान ढूंढने की जहमत कौन उठाता?

यह धैर्य धारण कर कहा जा सकता है कि उनका अंत भला ही रहा। उस स्थिति में बच जाते तो दुर्गति रहती। चाय पी-पीकर बिलकुल सूख चुके थे, वहीं कुछ बचा नहीं था। और उनकी सम्मानपूर्ण विदाई, वह तो रेअर है।...रोना आता है।

अच्छा साहब, धन्यवाद। आशीर्वाद क्या, आप लगन से कार्य करें, कामयाबी ही कामयाबी है। मैं आश्वस्त हूं कि आप गलत न समझेंगे। मुझे यह बहुत पसन्द आया कि आप ईर्ष्या-द्वेष या अंध-श्रद्धा-भक्ति के व्यूह में न फंसकर तटस्थ विवेचन की ओर अग्रसर हैं। नाते-रिश्ते अपनी जगह हैं, किन्तु जहां वैज्ञानिक विवेचन का प्रश्न आता है, वहां कोई सेंसर नहीं होना चाहिए। तथ्यों को सही रूप में साहसपूर्वक प्रस्तुत करना ही वहां ईमानदारी है।

२ : वसन्त माधव मुक्तिवोध

ोगंज, उज्जैन : ५-१०-१९७० : आपका पत्र मिला था, उसके सम्बन्ध
 मैंने आपको तुरन्त उत्तर लिख दिया था। वह आपके इधर की
ोर चल पड़ने के बाद पहुंचा होगा। अब आप आ ही गए हैं, तो जो प्रश्न
छना चाहें मैं तैयार हूं, लेकिन जैसाकि अपने पत्र द्वारा मैंने सूचित किया
ा, मैं भाई साहब के सम्बन्ध में विशेष-कुछ बताने की योग्य-स्थिति में
दाचित नहीं हूं। कारण, हम जितने दिन साथ रहे, हमारा सम्पर्क उतना
निष्ठ कभी नहीं रहा कि मुझे उनके जीवन का निकटता से अध्ययन
रने का अवसर मिला हो, और बाद में तो हम अलग-अलग, दूर-दूर रहे,
ब सामान्य पारिवारिक धरातल पर ही हमारा मिलन होता था, उसमें
ना कुछ भी नहीं है, जो आपके लिए उपयोगी हो सकता है।

आप इसे संयोग मात्र ही समझिए कि गजानन माधव मुक्तिबोध
े बड़े भाई थे। हम एक ही घर में साथ-साथ पले-बढ़े, किन्तु उनके समक्ष
री स्थिति एक छोटे भाई की हैसियत से प्रायः नगण्य-सी थी। परिवार में
ारी पारस्परिकता अपने माता-पिता के प्रति ही थी, अन्यथा उनके जीवन
 विकास-क्रम में मेरा अस्तित्व नहीं के बराबर रहा है। धीरे-धीरे उनका
पना एक अलग सर्किल बनता गया था, जिसमें उनके संगी-साथियों का
हत्त्व हो सकता है, चूंकि हिन्दी के तत्कालीन वातावरण से मेरा कोई
रोकार नहीं था। साहित्यिक अभिरुचि के कारण शरच्चन्द्र जी उनके
धिक निकट रहे थे। मैंने बताया न आपको, ऐसा अवसर ही कहां मिला

मुझे कि उनके सम्बन्ध में सोचने-समझने की नौबत आयी हो, शायद उन्होंने भी मेरे लिए कभी कोई चिन्ता-फिक्र न की होगी। जहाँ ऐसी हालत रही हो, आप स्वयं अंदाजा लगा सकते हैं, वहा मेरे पास आपको बताने के लिए क्या हो सकता है!

वंश-परम्परा के सम्बन्ध में ? वैसा कोई रिकॉर्ड हमारे यहा उपलब्ध नहीं है। सुनी-सुनाई बातों के आधार पर इतना ही मुझे मालूम है कि बहुत पहले हमारे परदादा श्रीवासुदेव जी जलगांव से ग्वालियर स्टेट में आ गए थे। जलगांव में हमारे पूर्वजों की पीढ़ी अब किस रूप में है, इस सम्बन्ध में भी मैं कुछ नहीं बता सकता, चूंकि वहाँ से हमारे परिवार का सम्पर्क स्थापित नहीं रहा था। हमारे दादाजी श्रीगोपालराव वासुदेव अपने पिता की एकमात्र सन्तान रहे होंगे और इसी प्रकार हमारे पिताजी भी, वरना और लोग हुए होते तो हमारे यहा उनका आना-जाना अवश्य रहता। इस तरह हमारे वंश-वृक्ष का जो चित्र बनता है, वह इस तरह है—

श्रीवासुदेव जी

श्रीगोपालराव वासुदेव

श्रीमाधवराव मुक्तिबोध, श्रीमती आत्ता बाई

सर्वश्रीगजानन मुक्तिबोध, शरच्चन्द्र मुक्तिबोध, वसन्त मुक्तिबोध, चन्द्रकान्त मुक्तिबोध।

३ : चन्द्रकान्त माधव मुक्तिबोध

हरसिद्धि (नार्थ), इन्दौर : ८-१०-१९७० : देखिए साहब आप मेरे यहां आए हैं, मैं बहुत प्रसन्न हूं, लेकिन मुझे भास रहा है, चूंकि जो सहयोग आप मुझसे चाहते हैं मैं उसमें शायद ही सहायक सिद्ध हो सकता हूं, यद्यपि आपके कार्य की सफलता के प्रति मेरी हार्दिक शुभकामनाएं हैं। भाई साहब के व्यक्ति-व्यक्तित्व की जो छाप मेरे मन पर है, वह आपके लिए कहां तक उपयोगी होगी, मैं स्वयं आश्वस्त नहीं हूं, और मैं नहीं कह सकता कि पारिवारिक सन्दर्भ में उसका सही चित्र आपके समक्ष प्रस्तुत करने की क्षमता मेरे लिए कहां तक सम्भव है।

जैसाकि आपको मालूम ही है हमारे परदादा श्रीवासुदेव जी जलगांव (खानदेश) से बहुत पहले ग्वालियर राज्य में आ बसे थे। जलगांव की ही यह घटना बताई जाती है कि स्वप्नदर्शन के फलस्वरूप नर्मदा से 'हरि' और 'हर' के द्योतक दो पावन प्रस्तर लिंग ले आने का उन्हें सन्देश मिला था। अगले दिन वे नर्मदा में स्नान करने गए, वहीं दोनों देवताओं के प्रस्तर-चिह्न उन्हें प्राप्त हुए थे। हरि की प्रस्थापना जलगांव में एक मन्दिर बनवाकर की गयी थी, जिसे 'मुक्तिबोध मन्दिर' के नाम से जाना जाता है। हर को हमारे परदादा अपने साथ ग्वालियर ले आए थे। हमारे पितामह के समय में उसकी दिन में तीन बार पूजा होती थी तथा पिताजी के प्रमोशन, बच्चों के पास होने और तीज-त्योहार के अवसर पर उसके पूजन का विशेष आयोजन किया जाता था। पिताजी की इच्छा के अनुसार

वह शिवलिंग आजकल मेरे यहां है। हां, आप उसके दर्शन कर सकते हैं।

हमारे वंश के नामकरण के सम्बन्ध में दो थ्योरियां प्रचलित हैं—पहली का आधार पेशवाओं की 'मुक्त फौज' को माना जाता है, दूसरी किसी पूर्वज के 'मुग्ध-बोध' या 'मुक्त-बोध' नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ की रचना के आधार पर निर्मित है। मुझे अच्छी तरह याद है, पहले हम सब अपना उपनाम 'मुक्तबोध' ही लिखते थे, जिसका 'मुक्तिबोध' संस्करण दोनों बड़े भाइयों ने मिलकर किया था। वंश-परम्परा सम्बन्धी कोई रिकॉर्ड हमारे यहां उपलब्ध नहीं है। जलगांव से हमारा सम्पर्क केवल एक वृद्ध महिला और उनके पति अडावतकरजी के साथ रहा है। वे हमारे यहां विवाह आदि के अवसर पर पधारते रहे थे। हमारे परदादा से पिताजी तक एक की एक सन्तान का क्रम रहा होगा, चूंकि और लोग हुए होते तो उनका आना-जाना हमारे यहां अवश्य रहता। यह सब मैं अपनी जानकारी से कह रहा हूं।

आपकी जिज्ञासा भाई साहब पर केन्द्रित है, इसलिए मैं अन्य बातों की ओर नहीं जा रहा हूं, फिर भी आपका ध्यान मैं इस तथ्य की ओर अवश्य ही आकृष्ट करना चाहूंगा कि हमारे परिवार में धार्मिक एवं आध्यात्मिक अनुशासन का एक विशिष्ट वातावरण विद्यमान रहा है। इस परम्परागत घरेलू वातावरण के प्रति भाई साहब की प्रतिक्रिया का विश्लेषण तो मैं शायद न कर सकूं, किन्तु उसके कुछ तत्वों का संस्कारगत प्रभाव उनके ऊपर निश्चित ही रहा होगा। मुक्तिबोध परिवार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसके किसी सदस्य ने विषम परिस्थितियों से गुजरते हुए भी कभी अनैतिक समझौते नहीं किए।

हमारे पिताजी की धर्म और दर्शन में गहरी अभिरुचि थी और इस क्षेत्र में उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था, यद्यपि प्रमाणपत्रीय दृष्टि से वे सिर्फ मिडिल पास थे। यहां यह बता देना भी मैं आवश्यक समझता हूं कि अपने अध्ययन-मनन के आधार पर पिताजी ने अपने विश्वास और मान्यताएं निर्धारित कर ली थीं, जिनकी आलोचना या प्रतिकूल आचरण

वे बिलकुल पसन्द नहीं करते थे। परिवार का कोई सदस्य यदि वैसा करने का साहस कर बैठता, तो वह बिगड़ जाते थे। स्पष्टतः, अपने सिद्धान्तों और विचारों के प्रति उनमें एक भीतरी ज़िद थी, जिसका निर्वाह उन्होंने जीवन-पर्यन्त किया। अपनी आलोचना को सहानुभूतिपूर्वक ग्रहण न करने का भाई साहब का भी स्वभाव रहा था। पिताजी की तरह भाई साहब भी हठी मिजाज़ के इन्सान थे।

पुलिस अधिकारी के रूप में पिताजी का व्यक्तित्व बहुत रोबीला था। कानून की पाबन्दी को वह बहुत महत्त्व देते थे और उसका पालन वह दृढ़तापूर्वक करते-कराते थे। महकमा पुलिस अपने काले कारनामों के लिए सदा से ही बदनाम रहा है, मगर पिताजी ने इस कीचड़ में रहकर भी अपने दामन पर कभी कोई दाग नहीं लगने दिया। रिश्वत जैसे किसी प्रलोभन की बात तो दरकिनार, छोटी-छोटी बातों के प्रति भी वह बहुत सावधान रहते थे। हम मुहर्रिर से फाइल का पेपर भी कभी ले आए, तो बुरी तरह डाट पड़ती थी। अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए पिताजी अपनी नौकरी तक की परवाह नहीं करते थे। खुशामद और चापलूसी से उन्हें सख्त नफरत थी और किसी भी दरबार में जाकर मुजरा करना उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। माताजी बताया करती थीं कि एक बार एक अंग्रेज अधिकारी सुबह-सुबह ही कोतवाली में आ धमका। पिताजी शौचादि से निवृत्त होकर ही उसका स्वागत करने पहुंचे, तब तक वह साहब अपने घोड़े पर ही टंगे बैठे रहे थे। अपनी आन पर जीने का ही यह परिणाम रहा कि अपनी योग्यताओं के बावजूद पदोन्नति के मामले में वह पिछड़े रहे, और अन्त में एक्सटेंशन तक उन्होंने नहीं ली, जिसकी तब उन्हें बहुत ज़रूरत थी। रिटायरमेंट के बाद, विषम आर्थि परिस्थितियों के दौरान, वे किसी के पास सिफारिश के लिए नहीं गए कलक्टर बाबूराव सूर्यवंशी स्वयं यह प्रस्ताव लेकर उनके पास आए थे कि डिवदान (धार) की जागीर के सर्वोच्च पुलिस अधिकारी का पद स्वीका कर लें। अपनी शर्तें मनवाकर कि उनके काम में कोई दखल नहीं देग

और उन्हें कोई अनैतिक काम करने के लिए विवश नहीं किया जाएगा, वह उस जागीर की नौकरी में गए थे।

माताजी के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें आपने मरुच्चद्रजी से पूछ ली होंगी, अब मैं विशेष-कुछ क्या बताऊं, मैंने तो उन्हें अपनी आदर्श मां के रूप में ही जाना-पहचाना है। वह एक किसान परिवार से आयी थीं, इस वजह से उनके मन में एक 'विलेज कॉम्पलेक्स' सदैव बना रहा, इसीलिए वह नहीं चाहती थीं कि सुसंस्कृत परिवार में उनकी ग्रामीणता लक्षित हो, अतः अपने व्यवहार के प्रति वह अतिरिक्त सजग तत्परता का निर्वाह करती थीं।

हम सात भाई-बहन हुए, जिनमें से दो भाई और एक बहन (सुमन) बचपन में ही चले गए थे।

भाई साहब के सम्बन्ध में मेरी प्रत्यक्ष स्मृतियां बहुत बाद की हैं, यानी १९३७ के आस-पास से। तब मैं सात वर्ष का था। पिताजी की छत्रछाया में पलते-पनपते पारिवारिक वैभव का वह अन्तिम दौर था। नवयुवक भाई साहब इस समृद्धि का उपभोग बचपन से ही करते आए होंगे। धुंधली-सी याद है उन दिनों की—भाई साहब की शान-शौकत, अलमस्त फक्कड़पन और हठी मिजाज; उनकी सभी जरूरतों का ध्यान रखा जाता था, हर मांग पूरी की जाती थी। इस मामले में जरा-सी अवहेलना उन्हें बरदाश्त नहीं थी, वह बिगड़ जाते थे। जिद्दी तो वह शुरू से ही थे, यह मां बताया करती थीं : छोटे-से थे, पहाड़े रटाते समय यदि जिद पकड़ ली तो फिर पिताजी से मार खाना मंजूर, अपनी हठ से बाज नहीं आते थे, बोलना बन्द कर लेते थे। सब उन्हें बाबू साहब कहकर पुकारते थे—पिताजी का आग्रह था। सोचता हूं, वह हमारे बाबू साहब मेरे प्रति कितने बाहद हार्दिक थे, एक भावुक-सी मधुर स्मृति है···उन्हें मालूम हो जाता कि मैं किसी बात से नाराज हूं, मार पड़ी है या कुछ और बात हुई है, तो वे मुझे अपनी गोद में बैठाकर झूम-झूमकर कविता सुनाते, मनाते, चिन्ता दूर करते। हमारे यहां आमड़ी-पालथी लगाकर, झूम-झूमकर कविता-पाठ

मरने का बड़ा ही सुन्दर रिवाज था।

प्रेम-प्रसंग के सम्बन्ध में आप मुझसे क्यों पूछते हैं? बताया न, आपको, उन दिनों मैं बच्चा था। सुनी-सुनाई बातें ही मैं बता सकता हूं : भाई साहब इन्दौर के होल्कर कॉलेज में पढ़ते थे, एम० टी० अस्पताल के क्वार्टरों में हमारी बुआजी (आत्ताबाई) के यहां रहते थे। वह जगह बहुत सुहावनी थी, हम छुट्टियों में वहां जाया करते थे। वहां कैसे क्या घटित हुआ, उनके प्रेम का स्वरूप कैसा था, अब मुझे क्या मालूम! अपने-अपने अन्दाज होते हैं। हां, उनकी जिद मुझे याद है। उन्होंने घोषणा कर दी थी कि मेरी शादी मेरी मर्जी से होगी, वहीं होगी। घर में भयंकर विरोध हुआ। अपने विद्रोह को जाहिर करने के लिए वह कुछ दिनों के लिए घर से भागे भी रहे। यह भिंड (ग्वालियर) का किस्सा है। प्रमोशन से पूर्व पिताजी को एक महीने के लिए उज्जैन से ट्रांसफर होकर भिंड जाना पड़ा था। खैर साहब, भाई साहब की इच्छा पूरी हुई। पिताजी को झुकना पड़ा, बड़े ठाठ-बाट में उन्होंने बेटे की शादी की, अलबत्ता दूसरे पक्ष पर थोड़ा-सा भी जोर नहीं पड़ने दिया गया, चूंकि वहां सामर्थ्य का सर्वथा अभाव था। हमारी बुआजी शादी में शामिल नहीं हुई थीं। एक वही थीं, जिन्होंने अपने विरोध को अन्त तक निभाया। अपनी आन पर जीना उनका स्वभाव था। उनके पति शादी के बाद, मानसिक विकृति के कारण, कहीं चले गए थे, आज तक उनका कोई पता नहीं। वे रॉयल नर्स थीं और उसी रूप में उन्होंने विदेशों की यात्राएं कीं, फिर बाद में उन्हें एम० टी० अस्पताल में जगह मिल गयी थी। आखिरी दिनों में वे अपने हितैषी डाक्टर मोती-वाले के मकान में रहती रहीं। साल भर पहले उनका देहान्त हुआ है।

माता-पिता के स्वप्न कुछ और थे, पुत्र ने अपनी जिद पर प्रेम-विवाह किया, इससे विरोध की एक स्थिति पैदा हुई, यह सब स्वाभाविक था। किन्तु स्थिति को सामान्य बनाने के लिए जिस अतिरिक्त प्रयास की तब बहुत ज्यादा जरूरत थी, उसका निर्वाह नहीं किया गया, इसलिए एक पारिवारिक तनाव ने जन्म लिया, जो निरन्तर बढ़ता गया। इस भीतरी समस्या

को शायद भाई साहब समझ न सके, जैसे उन्हें कुछ खयाल ही नही रहा, और वह अपनी बाहरी दुनिया मे खो गए। यहा एकदम कहा जा सकता है कि वास्तविक उत्तरदायित्व शान्ता भाभी को निभाना चाहिए था लेकिन उनमे उतनी कुशलता नही थी। वे सोच ही नही सकती थी कि मैं कहां से कहा आ गई हूं, मेरी इतिकर्तव्यता क्या है। इस सम्बन्ध में और अधिक कहने का मुझे कोई हक नही है, न मैं वैसा साहस ही कर सकता हू। लोगों की बात और है, उनकी धारणा तो यहां तक है कि शान्ता भाभी का आगमन मुक्तिबोध-परिवार के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ!

पिताजी रिटायर हो चुके थे, पैसा उन्होने जमा नहीं किया था और घरेलू खर्च ज्यों का त्यों बरकरार रहा। भाई साहब ने बी० ए० कर लिया था। वे पुलिस की नौकरी करें, ऐसी सबकी इच्छा थी, पर उन्हें यह मंजूर नहीं था। वस्तुत. सरकारी नौकरी से उन्हें एलर्जी-सी थी। सरकारी नौकर बनना तब उन्होंने स्वीकार ही नही किया। आर्मी की ट्रेनिंग के सिलसिले में बगलौर गए तो थोड़े दिनों बाद ही वापस चले आये। उन्मुक्त मन के भाई साहब को वहा का अनुशासन रास आ ही नही सकता था। वे जीवन में रेजिमेंटेशन पसन्द नही करते थे।

मैं समझता हूं, भाई साहब के प्रति कटुता का भाव हममे से किसी के भी मन मे नही होगा, चूकि हम उन्हें बहुत नजदीक से जानते थे। वे बहुत उदार और सरल हृदय के मानव थे। अपने आइडियाज मे और आइडिया-लॉजी मे जीना उनकी मजबूरी थी। सरकारी नौकरी उन्हे पसन्द नही थी, निष्क्रिय मास्टरी को अपना लिया। यह सब था, मगर उनके अपने ठाठ-बाट में और खर्चों मे कमी नहीं आयी। परिवार के प्रति उत्तरदायित्व का भाव शायद उनमे नहीं था। परिवार की स्थिति बिगड़ रही थी और कर्ज की नौबत आ चुकी थी, इससे वे अनभिज्ञ तो कदाचित् न रहे होगे, लेकिन उत्तरदायित्व का भाव उनमे पैदा ही नही हुआ; उस ओर उनका रवैया उपेक्षापूर्ण रहा। अपने वेतन से अधिक उनका व्यक्तिगत खर्च था। बनारस जाने से पूर्व उनकी गृहस्थी का सारा खर्च—डिलिवरी और अन्य

सेरेमनियों सहित—पिताजी को उठाना पड़ा, जिससे कर्ज का बोझ और बढ़ा। पिताजी यदि जागीर की नौकरी में न गए होते, तो क्या स्थिति होती, नहीं कहा जा सकता। फिर भी, हमारी शिक्षा आदि में रुकावट आयी और जीवन-स्तर का रूप ही बिगड़ गया। मैं फिर जोर देकर कहना चाहता हूं कि भाई साहब के व्यक्ति-व्यक्तित्व के प्रति हमारे मन में मधुरता ही है, उनके जिम्मेदारी न निभाने के कारण ही कटुता की पारिवारिक स्थिति का अस्तित्व स्वीकार किया जाना चाहिए।

जीवन-निर्वाह की सांसारिक वास्तविकताओं के प्रति भाई साहब का दृष्टिकोण यथार्थवादी नहीं था, उसकी ज्वलंत समस्याओं की ओर वे कभी उन्मुख नहीं हुए। उसकी चुभन उन्हें परेशान कर सकती थी, व्यावहारिक कर्मपक्ष में अग्रसर नहीं। इसके विपरीत बेरुखी का आलम उनकी चेतना को जीवन-पर्यन्त घेरे रहा। इस आधार पर यह मान्यता आरोपित जान पड़ती है कि मुक्तिबोध का आर्थिक संत्रास बाहरी था। वस्तुतः इस क्षेत्र की उनकी अपनी सफरिंग के वे स्वयं जिम्मेदार थे।

भाई साहब के उज्जैयिनी जीवन की घरेलू स्मृतियां ही मेरे पास हैं, अन्यथा उनका बाहरी कार्यक्षेत्र—जो उनकी असली दुनिया थी—मेरे लिए बिलकुल पराया है। चूंकि अवस्था में मैं उनसे छोटा था और हिन्दी साहित्य के प्रति मेरी वैसी रुचि कभी नहीं रही। हां, साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन और भाई साहब के साहित्यिक मित्रों की बैठकें हमारे यहां प्रायः होती रहती थीं, इसकी मुझे याद है। राजनीति की क्रान्तिकारी गतिविधियों से सम्बन्धित मीटिंगें भी हमारे घर पर हुई हैं, मुझे याद तो नहीं, पर कहते हैं कि होती जरूर थीं।

उज्जैन छोड़ने के बाद अपने बीवी-बच्चों को भाई साहब ने अपने साथ ही रखा, चाहे जहां जिस स्थिति में वे रह रहे हों। यहां भी एक जिद ही उनके मन में रही होगी कि जब प्रेम-विवाह किया है तो साथ निभाना ही पड़ेगा। जब वे नागपुर में थे, मुझे साल-एक-भर उनके सम्पर्क में रहने का फिर मौका मिला। वहां मैं शरच्चन्द्रजी के पास रहता था। अपनी शिक्षा

और नौकरी की समस्याएं ही मेरे लिए तब प्रमुख थीं, इसलिए भाई साहब के तत्कालीन जीवन को जानने-समझने का कम ही अवसर मिला।

पारिवारिक स्तर पर हमारा आना-जाना बराबर बना रहा। हम सभी अपने-अपने ढंग से व्यवस्थित हो गए थे। वैसे जब भी वे मिलते थे, घरेलू मामलों पर कम ही चर्चा होती थी। वह सब उन्हें नहीं रुचता था, तब वे बचाव ढूढने लगते थे। चर्चाओं के लिए उनके पास दूसरे अक्षय भंडार सुरक्षित रहते थे। हम थोड़ी दूर पान की दुकान तक भी उनके साथ घूम आते, तो इतनी देर में ही दुनिया भर की जानकारी हमें हासिल हो जाती थी। लेकिन घरेलू मसलों पर वह अकसर चुप्पी साध लेते थे। शायद उन्हें अपनी असमर्थता का ध्यान हो आता था। मुझे इस बात का बिलकुल गिला नहीं है कि उन्होंने हमारे लिए कुछ नहीं किया। अपनी गृहस्थी का खर्च चलाने में ही उन्हें काफी दिक्कत उठानी पड़ती है, यह हमसे छिपा नहीं था। वैसी स्थिति में भी, मेरा विश्वास है, यदि उनसे कुछ मांग की जाती, तो उसे वह ज़रूर पूरा करते।

यहां एक घटना याद हो आयी है। उन दिनों मैं जबलपुर में रहता था। पिताजी सख्त बीमार थे। भाई साहब मिलने आए। रोग-ग्रस्त पिता की हालत उनसे देखी नहीं गयी। सामान्य स्थिति में वे एक-दो दिन अवश्य रुकते, मगर उस विषमता में कुछ करने की बजाए, वे उसी दिन बिना बताए वापस चले गए। दूसरे दिन पिताजी की बीमारी का हाल जानने के लिए उनका 'रिप्लाई-पेड वायर' प्राप्त हुआ। यह जानकर पिताजी अत्यधिक क्षुब्ध हो उठे। कहा कि जवाब मत दो। बाद में मनिऑर्डर भी उन्होंने भेजा, जिसकी कोई ज़रूरत नहीं थी। अपने सीधेपन में कुछ इसी तरह की हरकतें उनसे अकसर हो जाया करती थीं।

एक और किस्सा सुनाता हूं। पिताजी भाई साहब के पास राजनांदगांव गए हुए थे। छुट्टियां थीं, मैं भी मिलने चला गया। एक दिन पिताजी की तबीयत कुछ खराब-सी थी। भाई साहब के ऊपर डॉक्टर बुलाने की चिन्ता सवार देखी तो मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसकी बिलकुल ज़रूरत

नहीं थी। मुझसे कुछ कहते बना नहीं और वह थे कि मुझे साथ लेकर डॉक्टर बुलाने चल पड़े। डॉक्टर के लिए रास्ते में रिक्शा पकड़ने लगे तो मैंने कहा, 'पहले देख तो लीजिए डॉक्टर खाली है या नहीं।' पर नहीं साहब, वे अपनी जिद पर, 'फुरसत की क्या बात है, उसे तुरन्त चलना पड़ेगा!' डॉक्टर की दुकान पर गए तो वहां भीड़ जमा थी। अब समय काटने की समस्या पैदा हुई। इन्तजार के लिए हम डॉक्टर की दुकान के बाहर बेंच पर भी बैठ सकते थे, मगर नहीं, भाई साहब मुझे लेकर एक रेस्टोरेंट में घुस गए। कहा, 'चाय पीते हैं।' मैंने एतराज किया, 'मैं चाय नहीं पीऊंगा, इच्छा नहीं है।' वे बोले, 'तो फिर लस्सी पीओ। हमारे लिए चाय और हमारे भाई के लिए लस्सी लाओ!' उन्होंने ऑर्डर दे दिया। यह सब मना करते-करते हुआ। उधर रिक्शावाला तैनात खड़ा किया हुआ था, डॉक्टर को ले चलने के लिए। उसका किराया चढ़ रहा था। निपटकर डॉक्टर को साथ लेकर चले तो रास्ते में उसी डॉक्टर के कारनामे सुनाकर मुझे हंसाते रहे। संक्षेप में यह कि पिताजी को खुश रखने की धुन में उन्होंने बिना बात काफी पैसे बिगाड़ दिए। मुझे अच्छी तरह मालूम था कि पैसे की उनके पास तंगी है। किसी भी प्रसंग में यदि मैं पैसे देने की बात कह देता तो वे बुरी तरह बिगड़ जाते। उन्हें लगता, मैं उनका अपमान कर रहा हूं। यह उनकी अव्यावहारिकता के उदाहरण हैं।

आइए, जब आपको शिवलिंग के दर्शन कराएं···। यह तसवीर पिताजी की है और यह दादाजी की। पिताजी फोटो खिचवाने से डरते थे, यह तसवीर एक ग्रुप फोटो में से बनवाई थी। दादाजी की तसवीर बुआजी के एक ट्रंक में से मिली थी। एक दिन मैं यूं ही उनके सामान को उलट-पुलट रहा था।

अब आप कभी फिर आएं। मैं जरा अस्वस्थ हूं, वरना एम० टी० अस्पताल की वह जगह साथ चलकर दिखलाता, जहां भाई साहब बुआजी के साथ रहा करते थे।

४ : शांताराम क्षीरसागर

सिटी डिस्पेंसरी, उज्जैन ५-१०-१९७० आपसे मिलकर मैं हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूं। आप जिस व्यक्ति का नाम लेकर हमारे यहां उपस्थित हुए हैं, उनके प्रति हमारे परिवार के प्रत्येक सदस्य के मन में असीम आदर और पारिवारिक स्नेह का भाव विद्यमान है। मेरी इच्छा है, आप होटल छोड़कर यहां हमारे घर पर ही आ जाएं, किसी प्रकार की दिक्कत आपको नहीं होगी। इसमें संकोच करने की जरूरत बिलकुल नहीं है। खैर, देख लीजिए। कल दिन में आप दूसरे लोगों से मिल लें, शाम को हम खूब फुरसत में बैठेंगे। चलिए, ललितजी की ओर होते हुए चलते हैं, इस वक्त वे घर पर ही होंगे।

६-१०-७० : मुक्तिबोध के सम्बन्ध में जो मेरी जानकारी है, वह आपके लिए कहां तक उपयोगी हो सकती है, यह देखना आपका काम है, मैं तो बस आपकी योजना के अनुसार अपनी स्मृतियों को सिलसिलेवार प्रस्तुत करने का प्रयास करूंगा।

मुझे तिथि तक याद है, २०-१०-१९३१ को मैं अपनी मां के साथ उज्जैन आया था। फिर हम यहां के स्थायी निवासी बन गए। माधव कॉलेज में प्रवेश पाने के बाद मेरे और मुक्तिबोध के परिचय की शुरुआत होती है। वे नवीं में पढ़ते थे, मैं दसवीं में। हम यहां ढाबा रोड पर रहते थे, वे कोतवाली में। हमारा कॉलेज जाने का रास्ता एक ही था। इस लिहाज से, बहुत ही सामान्य स्तर पर, हम एक-दूसरे को जानने लगे थे।

घूमने-फिरने का उन्हें बहुत शौक था। मुझे भी वे कभी-कभी अपने साथ ले जाते। इसी बीच उन्होंने मुझे अपने यहाँ घर पर बुलाया। मालूम हुआ कि वे कविताएं लिखते हैं। घर के सदस्यों को छोड़कर, शायद मैं पहला व्यक्ति हूंगा, जिसे उन्होंने अपनी प्रारम्भिक रचनाएं सुनाई थीं। कविताएं वे लिखते-बिगाड़ते रहते थे। दूसरों को इसलिए नहीं दिखाते थे कि कहीं कोई मज़ाक न उड़ाने लगे। जो कविता वे मुझे सुनाते, उस पर मेरी राय पूछते। कविता में मेरी विशेष अभिरुचि नहीं थी। टूटी-फूटी राय ही मैं दे सकता था। अपनी कविता के प्रेरणा-स्रोतों—प्रकृति, मानव-प्रेम, राष्ट्र, दूसरे कवियों की रचनाएं आदि—की ओर इंगित कर वे उनका केन्द्रीय-भाव बताकर, विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया करते थे। मैं हां-में-हां मिला देता था।

मुक्तिबोध की माताजी मुझे उनके मित्र के रूप में जानने लगी थीं। वे बहुत उदार हृदय और अच्छे स्वभाव की महिला थीं। मैट्रिक पास करने के बाद जब मेरे सामने नौकरी की समस्या पैदा हुई, मुक्तिबोध ने माताजी से इसका जिक्र किया। उन्होंने पिताजी से कहा, एक तरह से सिफारिश की। पुलिस में जगह दिला देना उनके लिए कठिन नहीं था। उन्होंने मुझे अपने पर्सनल असिस्टेंट के रूप में रख लिया। यह शिक्षा भी शुरू में ही दे दी कि मैं अपने काम और व्यवहार में बराबर ईमानदार रहूं। इस प्रकार अपना ढाबा रोड का मकान छोड़कर मैं अपनी माताजी के साथ कोतवाली के क्वार्टरों में रहने लगा। कल मैं आपको साथ चलकर, चूंकि आपको अकेले शायद अनुमति न मिल सके, सारी कोतवाली दिखाऊंगा। वह जगह भी, जहां मुक्तिबोध के पिताजी सपरिवार रहा करते थे। सचमुच वह दर्शनीय है। तब आप अन्दाज़ा लगा सकेंगे कि उनका तत्कालीन जीवन कितना वैभवशाली रहा होगा। उज्जैन की सेण्ट्रल कोतवाली सर सेठ हुकमचन्द का अपने रहने के लिए बनवाया हुआ महल था, जिसे उन्होंने महाराजा ग्वालियर को भेंट कर दिया था।

मुक्तिबोध के पिता श्री माधवराजजी मुक्तिबोध का व्यक्तित्व पुलिस

विभाग में अपवाद की सीमा तक विशिष्ट था।—कीचड में कमल की तरह विकसित। एक ओर वे पूजापाठी, धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे; उनके व्यक्तिगत जीवन में आध्यात्मिक अनुशासन की अद्भुत गरिमा लक्षित की जा सकती थी। दूसरी ओर वे एक निर्भीक और न्यायनिष्ठ पुलिस ऑफिसर थे, अपनी ड्यूटी के पाबन्द और कानून-व्यवस्था की रक्षा में कठोरता से तत्पर। उस जमाने के प्रायः सभी गम्भीर मामलों की छान-बीन के दौरान मैं भी उनके साथ रहा था, इसलिए जानता हूं कि कैसे-कैसे प्रलोभन उन्हें नहीं दिए गए, मगर उनकी दृढ़ता सदैव कायम रही, विचलित वे हो ही नहीं सकते थे। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव मुक्तिबोध के व्यक्तित्व एवं संस्कारों के निर्माण में सामाजिक रूप से रहा है। वे मुझे भी अपने स्नेह का योग्य पात्र मानने लगे थे। हालांकि मैं उनके अधीन काम करता था, किन्तु उनके परिवार में मेरी स्थिति एक सदस्य के रूप में सुरक्षित हो गयी थी। माताजी तो मुझे अपना पांचवां पुत्र समझती थीं। मुक्तिबोध-परिवार के साथ मेरा वह सम्बन्ध आज तक बरकरार है।

आप शायद अपने मुक्तिबोध के बारे में जानने के लिए ही अधिक उत्सुक हैं, इसलिए मैं उन्हीं की ओर लौट आता हूं। तब वे मैट्रिक में थे और परीक्षा के बहुत कम दिन रह गए थे। रातको राउंडपर साथ, मैंने माधवरावजी को चिंतित मुद्रा में लक्षित किया। उन्होंने बताया : शांताराम, यह गजानन पढ़ाई-लिखाई की ओर से उदासीन, अपनी मटरगश्ती में व्यस्त रहता है। मैं तो उसकी ओर विशेष तवज्जो दे नहीं सकता, तुम ही उसका कुछ खयाल करो। तुमने मैट्रिक कर ली है, उसे गाइड तो कर ही सकते हो। उस वर्ष जनवरी में मार्च तक, अपने इधर-उधर के काम छोड़कर, मैंने अपना सारा समय मुक्तिबोध के लिए रिजर्व कर लिया। मैं नहीं कह सकता, मुझमें वैसी काबलियत थी या नहीं, मगर उस वर्ष वे पास हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि पिताजी मुझे और मानने लगे तथा मुक्तिबोध का मैं घनिष्ठ मित्र बन गया, जैसे इस अवधि में मैंने उनके विश्वास को जीत लिया था।

घूमने-फिरने का उन्हें बहुत शौक था। मुझे भी वे कभी-कभी अपने साथ ले जाते। इसी बीच उन्होंने मुझे अपने यहाँ घर पर बुलाया। मालूम हुआ कि वे कविताएँ लिखते हैं। घर के सदस्यों को छोड़कर, शायद मैं पहला व्यक्ति हूँगा, जिसे उन्होंने अपनी प्रारम्भिक रचनाएँ सुनाई थीं। कविताएँ वे लिखते-बिगाड़ते रहते थे। दूसरों को इसलिए नहीं दिखाते थे कि कहीं कोई मजाक न उड़ाने लगे। जो कविता वे मुझे सुनाते, उस पर मेरी राय पूछते। कविता में मेरी विशेष अभिरुचि नहीं थी। टूटी-फूटी राय ही मैं दे सकता था। अपनी कविता के प्रेरणा-स्रोतों—प्रकृति, मानव-प्रेम, राष्ट्र, दूसरे कवियों की रचनाएँ आदि—की ओर इंगित कर वे उनका केन्द्रीय-भाव बताकर, विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया करते थे। मैं हाँ-में-हाँ मिला देता था।

मुक्तिबोध की माताजी मुझे उनके मित्र के रूप में जानने लगी थीं। वे बहुत उदार हृदय और अच्छे स्वभाव की महिला थीं। मैट्रिक पास करने के बाद जब मेरे सामने नौकरी की समस्या पैदा हुई, मुक्तिबोध ने माताजी से इसका जिक्र किया। उन्होंने पिताजी से कहा, एक तरह से सिफारिश की। पुलिस में जगह दिला देना उनके लिए कठिन नहीं था। उन्होंने मुझे अपने पर्सनल असिस्टेंट के रूप में रख लिया। यह शिक्षा भी शुरु में ही दे दी कि मैं अपने काम और व्यवहार में बराबर ईमानदार रहूँ। इस प्रकार अपना ढाबा रोड का मकान छोड़कर मैं अपनी माताजी के साथ कोतवाली के क्वार्टरों में रहने लगा। कल मैं आपको साथ चलकर, चूँकि आपको अकेले शायद अनुमति न मिल सके, सारी कोतवाली दिखाऊँगा। वह जगह भी, जहाँ मुक्तिबोध के पिताजी सपरिवार रहा करते थे। सचमुच वह दर्शनीय है। तब आप अन्दाज़ा लगा सकेंगे कि उनका तत्कालीन जीवन कितना वैभवशाली रहा होगा। उज्जैन
कोतवाली सर सेठ हुकमचन्द का अपने रहने के लिए
था, जिसे उन्होंने महाराजा ग्वालियर को
मुक्तिबोध के पिता

के विद्यार्थी, जो इस ओर रुचि रखते थे, उनके मित्र बन गए थे। रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' उनके अध्यापक तो थे ही, कविता के क्षेत्र में सलाहें देने और उत्साह बढ़ाने का श्रेय भी उन्हीं को दिया जाना चाहिए।

जैसाकि मैं पहले ही बता चुका हूं, साहित्य में मेरी गति नहीं के बराबर थी। मुक्तिबोध के व्यक्तिगत और घरेलू जीवन को ही मैंने निकटता से देखा था। अपनी नौकरी के दौरान उनके पिताजी कोतवाली के मकान में ही रहते रहे थे। उनके जमाने में कोतवाली का वातावरण अनुशासन के मामले में अद्वितीय था। क्या मजाल कि कहीं जरा-सी भी ढील हो जाए! प्रत्येक कर्मचारी अपनी जगह पर तैनात, मुस्तैद! घर में भी उनका रोबदाब कम नहीं था। मुक्तिबोध उनके आगे बोलने का साहस नहीं कर सकते थे, यद्यपि पिता के लाड़-प्यार से वे कभी वंचित नहीं रहे। माताजी अलबत्ता वात्सल्य की मूर्ति, उनकी सभी सुविधाओं का ख्याल रखती थीं। उनके सामने वे निस्संकोच हो जाते थे। वे भगवान को भोग लगातीं तो मुक्तिबोध विनोद में कहते : 'मां, क्यों पत्थर के लिए परेशान हो रही हो, मुझे खिलाओ तो कुछ गुण भी पहुंचे।' वे मीठी झिड़किया सुनाती : 'शांताराम, इस मूर्ख को समझाओ, यह तो नास्तिक होता जा रहा है।' पारिवारिक सुख-समृद्धि के वे दिन अब इतिहास बन गए हैं।

इण्टर पास करने के बाद मुक्तिबोध को इन्दौर के होल्कर कालेज में दाखिल कराया गया। वहां वे अपनी बुआजी के पास रहते थे। उन्हीं दिनों का एक संस्मरण सुनाता हूं : वे गर्मियों की छुट्टियों में उज्जैन आए हुए थे। एक शाम को वह फ्रीगंज में मुझसे मिले। अचानक ही उन्होंने मुझसे अपने साथ इन्दौर चलने के लिए कहा। मेरा स्वभाव कुछ एडवेंचरस-सा रहा है। बिना यह पूछे कि रात को इन्दौर जाने का मकसद क्या है, मैंने उनके साथ चलने को कह दिया। रात को स्टेशन पर पहुंचने के बाद मुझे पता चला कि मुक्तिबोध की जेब खाली है। उन्हें इस बात का शायद ख्याल ही नहीं रहा था कि रेल में सफर करने के लिए टिकट खरीदना पड़ता है। पैसे मेरे पास भी नहीं थे। गाड़ी प्लेटफार्म पर खड़ी थी। हम डब्ल्यू० टी०

अब तक इण्टरमीडिएट के विद्यार्थी थे। उन दिनों एक [illegible]
[illegible] गीतों की चर्चा नहीं थी। मालूम नहीं [illegible] ने 'मा
र गूंज रहा है' की भूमिका में मुक्तिबोध के [illegible] गीत व [illegible]
हुये कैसे ठहराता? इस बात का पता चलने पर मुझे बहुत दुःख हुआ
था। आप इसके लोगों में मुख्य थे, मैंने [illegible] कभी [illegible] तक नहीं।
[illegible] मुद्रित न होने से ही उन्होंने इसका यूं ही अन्दाजा लगा लिया होगा,
क्योंकि इसे 'आचार्य' शब्द का प्रयोग किया है। हां, वे मेरे साथ घूमने-फिरने
[illegible] थे। रात को भी यदि मैं [illegible] की छुट्टी पर होता, वे मुझे घुमाने और
[illegible] का ऐसा दौर चलता कि समय का पता ही न चल पाता।
[illegible] उनकी उन्मुक्त प्रकृति के सर्वथा अनुकूल थी। किन्तु उनका
घूमना-फिरना निरर्थक नहीं था। वे प्रकृति के हर अंग का सूक्ष्मता से
परीक्षण करते थे। प्रथमतः अपने मानस में उसे उतारकर, फिर उसका
चित्रण अपनी कविता में करते थे। यह बात मैं अपने अनुभव के आधार
[पर] ही कह रहा हूं। शहर का शायद ही कोई ऐसा कोना होगा, जहां हम
[सा]थ-साथ न घूमे हों। हमारी बातचीत का कोई निश्चित एजेंडा तो होता
[न]हीं था। मैं तो बहुत ही कम बोलता था, बस उन्हें सुनता रहता था।
[उन्]हें अपनी बात कहने से ही फुरसत नहीं मिलती थी। अपने अध्ययन-
[मन]न और चिंतन के फलस्वरूप जो-कुछ उनकी चेतना को घेर लेता था,
[बात]चीत के द्वारा वे उससे छुटकारा पाने का प्रयास करते। गांधीजी
[की] नीतियों की आलोचना, मार्क्सवाद की प्रशंसा, साहित्य और समाज के
[सम्ब]ंध प्रश्नों से लेकर परिचित व्यक्तियों और उज्जैन की तत्कालीन
[घट]नाओं तक उनकी चर्चाओं का विषय बन जाते थे। वह बहुत तेजी से
[बोल]ते थे, मगर कुछ ऐसा वातावरण पैदा हो जाता था कि सरसता कायम
[रहत]ी, और मुझे लगता, वे हर बात को गंभीर अर्थ देने की कोशिश कर
[रहे] हैं। वैसे मेरा ज्ञान उस क्षेत्र में सीमित ही था।

मैं जानता था, कविता की ओर उनकी रुझान बढ़ रही है। उनसे छोटे
[भा]ई शरच्चन्द्रजी भी तभी से साहित्य में रुचि लेने लगे थे, और भी कॉलेज

के विद्यार्थी, जो इस ओर रुचि रखते थे, उनके मित्र बन गए थे। रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' उनके अध्यापक तो थे ही, कविता के क्षेत्र मे सलाहे देने और उत्साह बढाने का श्रेय भी उन्ही को दिया जाना चाहिए।

जैसाकि मैं पहले ही बता चुका हू, साहित्य मे मेरी गति नही के बराबर थी। मुक्तिबोध के व्यक्तिगत और घरेलू जीवन को ही मैंने निकटता से देखा था। अपनी नौकरी के दौरान उनके पिताजी कोतवाली के मकान मे ही रहते रहे थे। उनके जमाने मे कोतवाली का वातावरण अनुशासन के मामले मे अद्वितीय था। क्या मजाल कि कहीं जरा-सी भी ढील हो जाए! प्रत्येक कर्मचारी अपनी जगह पर तैनात, मुस्तैद! घर मे भी उनका रोबदाब कम नहीं था। मुक्तिबोध उनके आगे बोलने का साहस नही कर सकते थे, यद्यपि पिता के लाड़-प्यार से वे कभी वचित नही रहे। माताजी अलबत्ता वात्सल्य की मूर्ति, उनकी सभी सुविधाओ का खयाल रखती थी। उनके सामने वे निस्सकोच हो जाते थे। वे भगवान को भोग लगाती तो मुक्तिबोध विनोद मे कहते : 'मां, क्यो पत्थर के लिए परेशान हो रही हो, मुझे खिलाओ तो कुछ गुण भी पहुचे।' वे मीठी झिडकिया सुनाती : 'शाताराम, इस मूर्ख को समझाओ, यह तो नास्तिक होता जा रहा है।' पारिवारिक सुख-समृद्धि के वे दिन अब इतिहास बन गए हैं।

इण्टर पास करने के बाद मुक्तिबोध को इन्दौर के होल्कर कॉलेज मे दाखिल कराया गया। वहा वे अपनी बुआजी के पास रहते थे। उन्ही दिनो का एक सस्मरण सुनाता हू : वे गर्मियो की छुट्टियो मे उज्जैन आए हुए थे। एक शाम को वह फ़ीगज मे मुझसे मिले। अचानक ही उन्होने मुझसे पने साथ इन्दौर चलने के लिए कहा। मेरा स्वभाव कुछ एडवेंचरस-सा हा है। बिना यह पूछे कि रात को इन्दौर जाने का मकसद क्या है, मैंने नके साथ चलने को कह दिया। रात को स्टेशन पर पहुचने के बाद मुझे ता चला कि मुक्तिबोध की जेब खाली है। उन्हे इस बात का शायद खयाल नहीं रहा था कि रेल मे सफर करने के लिए टिकट खरीदना पडता है। से मेरे पास भी नहीं थे। गाड़ी प्लेटफार्म ...

बी० ए० पास करने के बाद मुक्तिबोध के सामने दो समस्याएं पैदा हुईं—एक नौकरी की और दूसरी शांताजी के साथ शादी करने की। उनके प्रेम की भनक घरवालों के कानों में पड़ चुकी थी। पिताजी की इच्छा थी कि उनका बेटा कोई अच्छा सरकारी पद प्राप्त कर ले। यह संभव भी था, चूंकि उनका बहुत प्रभाव था। तहसीलदार की नौकरी तो उन्हें आसानी से मिल भी रही थी। मगर उस समय मुक्तिबोध सरकारी नौकर होना गुलामी को स्वीकार करने के बराबर मानते थे। इसीलिए उन्होंने इधर-उधर के स्कूलों में मास्टरी करना ही ज्यादा मुनासिब समझा। विवाह का प्रस्ताव जब उन्होंने घरवालों के सामने रखा तो उसका घोर विरोध हुआ। बुआजी को तो किसी भी स्थिति में यह रिश्ता मंजूर नहीं था। वह नहीं चाहती थीं कि मेरी नौकरानी की लड़की से मेरा भतीजा शादी करे। पिताजी के स्वप्न भी कुछ और ही थे। लेकिन मुक्तिबोध अपनी ज़िद पर अड़े रहे। विरोध का एक कारण यह भी था कि शांताजी को अस्तमा की शिकायत थी। उनकी मां तो अस्तमा से पीड़ित थीं ही।

इसी बीच कुछ दिनों के लिए माधवरावजी का तबादला ग्वालियर के लिए हो गया था। मुक्तिबोध भी उनके साथ वहां चले गए थे। अपने विवाह-प्रस्ताव के तीव्र विरोध से क्षुब्ध होकर वे घर पर बिना बताए, मेरे पास उज्जैन भाग आए। मैं तब तक अविवाहित था। मेरी माताजी उन्हें अपने पुत्र के समान चाहती थीं। अपनी ज़िद को उन्होंने दृढ़तापूर्वक मेरे सामने प्रस्तुत किया : 'मेरा विवाह शांता के साथ ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। यदि इसे स्वीकार नहीं किया गया तो मैं अपने पिताजी के पास कभी नहीं जाऊंगा, चाहे कहीं जाना पड़े।' उन्होंने चार-पांच पृष्ठों का एक आवेशपूर्ण पत्र पिता के नाम लिखा, चूंकि वैसी बातें उनके सामने कहने की उनमें हिम्मत नहीं थी। पिताजी भी अपना विरोध त्यागने को तैयार नहीं थे। उन्होंने कहा बताते हैं : 'यह शादी नहीं होगी, चाहे वह कहीं भी चला जाए।' मां के हृदय ने बेटे के दर्द का अंदाजा सबा लिया होगा।

उन्होंने पक्ष लेना शुरू कर दिया। इस पर पिताजी भीतर-ही-भीतर रजामंद हो गए होंगे। कहा: मैं कुछ नहीं जानता, जो तुम्हें करना हो कर लो।' खैर, मुक्तिबोध की जीत हुई। उनकी बुआ श्रीमती भागोबाई देवासकर शादी में शामिल नहीं हुईं। अंतिम दिनों तक उनका भयंकर विरोध कायम रहा।

मुक्तिबोध की शादी बहुत मामूली ढंग से हुई थी, चूंकि दूसरा पक्ष उतना समर्थ नहीं था। एक मंदिर में संपूर्ण विधियाँ सम्पन्न करा ली गयी थीं। इन्दौर से बारात लौटते समय की एक घटना मुक्तिबोध की लापरवाह घुमक्कड़ी वृत्ति पर बहुत अच्छा प्रकाश डालती है। चुंगी पर बस खड़ी हुई तो उन्हें थोड़ी दूर घूम आने की सूझी। मुझे साथ लेकर वे घूमते-घामते दूर निकल गए। उन्हें खयाल नहीं रहा कि दूल्हा होने के कारण उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। और लोगों ने भी हमारी ओर ध्यान नहीं दिया और बस घर पहुंच गयी। द्वार-प्रवेश के समय दूल्हे मियां की खोज शुरू हुई। ढूंढने के लिए सिपाही दौड़ाए गए। घर पहुंचने पर पिताजी सख्त नाराज मिले। मुक्तिबोध चुप रहे। ऐसे अवसरों पर चुप्पी साध लेना उनकी आदत थी।

कुछ दिनों के लिए मेरा ट्रांसफर उज्जैन से बाहर हो गया था। बीच में उज्जैन आया तो शरच्चन्द्रजी ने बताया कि बाबू साहब (मुक्तिबोध) मिलिटरी में चले गए हैं। मुझे आश्चर्य हुआ, चूंकि यह कार्य उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। उनके किसी साथी ने रंगरूटों को पढ़ाने के लिए वहां जगह की व्यवस्था कर दी थी। दूसरी बार फिर गया तो वे छुट्टी पर आए हुए थे। फिर वापस नहीं गए। रिमाइंडर आते रहे। उस अनुशासन में वे अपने-आपको एडजस्ट न कर पाए होंगे।

सन् १९५५ में पत्नी सहित मैं नागपुर गया। वहां बाबू साहब और बबन साहब (शरच्चन्द्रजी) बहुत दिनों से थे। वहां मैं अपने भाई के यहां कुछ दिन रहा। मुक्तिबोध अपने साहित्यिक संघर्ष में लगे हुए थे, मुलाकात होती रहती थी। एक दिन उन्होंने मुझे खाने पर बुलाया। मैं तो

उनका घर-जैसा आदमी था, फिर भी उनमें मेहमाननवाजी का एक अपने ही ढंग का चाव था। उनका नयी मुक्रवारी का मकान आपने देखा होगा। आप चाहे उसे नर्क कहें, मगर मैं समझता हूं, मुक्तिबोध इस ओर विशेष ध्यान नहीं देते थे। जहां जैसी जगह हो वे रह सकते थे, जैसा खाने को मिल गया, खा लेते थे। इन छोटी-छोटी बातों की परवाह वे नहीं करते थे। वे इनसे ऊपर उठकर जीते थे।

चंद्रकांतजी की शादी में शामिल होने के लिए हम सब सपरिवार उज्जैन आ रहे थे, तभी का यह किस्सा है कि वे नागपुर और इटारसी के बीच के एक छोटे-से स्टेशन पर चाय के चक्कर में गाड़ी से रह गए थे। मैं उन्हें बराबर कहे जा रहा था कि जल्दी कीजिए, गाड़ी छूट जाएगी, मगर वे तसल्ली से चाय पीते रहे : 'अरे साहब, गाड़ी कैसे चली जायेगी, हम चाय पी रहे हैं।' वे चाय पीते रहे और गाड़ी खिसक चली। मैं भाग-कर गाड़ी के डिब्बे में चढ़ गया। वे चाय पीते रह गए। टिकट उन्हीं के पास थे। आगे का हाल तो आपको मालूम ही है। बबन साहब ने बताया होगा।

पुलिस विभाग मैंने १६५८ में छोड़ दिया था। मेरी बतौर कौंसिल स्टेनो नियुक्ति हो गयी थी। वहीं से मैं रिटायर हुआ हूं। मुक्तिबोध जब भी उज्जैन आते, मुझसे मिलते। वे उतने बड़े साहित्यकार होकर भी अपने पुराने दोस्त को कभी नहीं भूले थे।

अब और जो बातें आप पूछना चाहें, मैं तैयार हूं। कल हम उज्जैन के ऐतिहासिक स्थानों पर घूमने चलेंगे। फिर वे सभी स्थल आपको दिखाऊंगा, जहां मैं और मुक्तिबोध साथ-साथ घूमे-फिरे थे। रात की घुमक्कड़ी का आनंद कुछ और ही होता है। आप मेरी चिंता बिलकुल न करें। मैं अब भी दस-बीस मील आराम से पैदल चल लेता हूं और घूमने का मेरा वही पुराना शौक है।

अच्छा, फिर कल ''आप जब तक उज्जैन में हैं, हमारे यहां आते रहें। दशहरे के दिन भोजन हमारे यहां ही करना है।

५ : विलायतीराम घेई

बिरला मिल्स ऑफिसर्स क्वार्टर, दिल्ली १६-८-१९७१ : अपने सम्पर्क में आए मुक्तिबोध को याद कर पाना, आज इतने दिनों बाद भी, मेरे लिए बहुत मुश्किल बात नहीं है। हम नवीं कक्षा में बी० ए० तक सहपाठी रहे थे। सहपाठी तो और भी बहुत-से थे, लेकिन मेरी और मुक्तिबोध की घनिष्ठता का मूल कारण कविता के प्रति हमारी अभिरुचि को ही स्वीकार किया जा सकता है। छठी-सातवीं कक्षा से ही कविता लिखने की ओर मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति रही थी। जब मैं नवीं कक्षा का विद्यार्थी था, तब मुझे अपने कालिज—माधव कालिज, उज्जैन—की हिन्दी साहित्य समिति का मंत्री बनाया गया था। साहित्य समिति की गोष्ठियों और अन्य कार्यक्रमों में मुक्तिबोध सक्रिय भाग लेते थे। इससे पहले, सन् १९३१ में उज्जैन में जो साहित्य सम्मेलन आयोजित किया गया था, जिसमें गांधीजी भी आए थे, उसमें हम दोनों ने स्वयंसेवक के रूप में काम किया था। विद्यार्थी जीवन में, सभी साहित्य-सम्बन्धी आयोजनों में, हम प्रायः साथ ही रहा करते थे। कवि-सम्मेलनों में भी हमने एक ही मंच से अनेक बार कविता-पाठ किया था, यद्यपि मेरी तुलना में मुक्तिबोध कवि-सम्मेलनों में उतनी रुचि नहीं लेते थे। वस्तुतः ऐसे अवसरों पर उन्होंने बहुत बाद में जाना शुरू किया था, और बाद में भी वहां जाने में वे कुछ संकोच का अनुभव किया करते थे। खेल-कूद आदि में मुक्तिबोध की उतनी दिलचस्पी नहीं थी। सक्रिय भाग तो इस क्षेत्र में उन्होंने,

शायद, कभी लिया ही नहीं था।

मुक्तिबोध प्रारम्भ से ही अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण करने की ओर अग्रसर रहे थे, ऐसा मेरा अनुभव है। वे स्वभावतः संवेदनशील थे। उनमें कल्पनाशीलता भी बहुत तीव्र थी, साथ ही उनका जीवन-निरीक्षण भी पर्याप्त गम्भीर था। वे कविता लिखते थे, और कविता के बारे में बहस करना उन्हें बहुत पसन्द था। साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त दार्शनिक चर्चाओं में भी उनकी गहरी दिलचस्पी को लक्षित किया जा सकता था। अपनी बात को स्पष्ट करने की चेष्टा में वे प्रायः बहस की स्थिति उत्पन्न कर लिया करते थे। होता यह था कि कविता और दर्शन की चर्चाओं में उनका खुद का जीवन-निरीक्षण भी घुला-मिला रहता था। अनुभव को ग्रहण करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी, और वे उसका बौद्धिक विश्लेषण करने में भी बहुत माहिर थे। रंग और गंध की अनुभूति तथा इनकी विविधता का गहरा बोध जैसा उनमें था वैसा बहुत कम लोगों में पाया जाता है। उनकी तत्कालीन कविताओं में रंगीन आवेग की प्राथमिकता के साथ-साथ सौन्दर्य के प्रति सहज आकर्षण का भाव सर्वत्र विद्यमान रहता था। रात को देखे अपने स्वप्नों का जैसा-का-तैसा वर्णन वे हमें प्रायः सुनाया करते थे। तब स्वप्न-चित्रों का टूटना-जुड़ता स्वरूप जैसे प्रत्यक्ष हो उठता था। उन्हें स्वप्न बहुत दिखाई देते थे। शायद अपने स्वप्नों को काव्यमय भाषा में सुनाते समय वे कल्पना का थोड़ा-बहुत मिश्रण भी कर दिया करते थे। कुहासे-जैसी अस्पष्टता, धुन्ध-धुआँ-सा या दुर्बोधता तब उनकी कविताओं में कतई नहीं मिलती थी। सीधी-सरल सांकेतिकता का आभास अलबत्ता रहता था, जिसे समझने में कहीं कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती थी। शुजालपुर में रहकर उन्होंने मार्क्सवाद का गहन अध्ययन-मनन किया था, और उसके बाद उनकी चेतना का मूलाधार हो यह नया दर्शन बन गया था, जिसके फलस्वरूप उनकी काव्यधारा ने भी एक निश्चित मोड़ लिया था।

मुक्तिबोध के व्यक्तिगत जीवन के प्रसंगों की मेरी जानकारी उनके

उज्जैन छोड़ने तक ही सीमित है। उनकी माताजी धर्मनिष्ठ महिला थीं। पिताजी भी धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। किन्तु थानेदार होने के नाते वे बहुत ही अनुशासन-प्रिय और कानून की पाबन्दी के अत्यधिक पक्षधर थे। कोतवाली के अपने मकान में अनुशासन और कानून की जकड़बन्दी से तंग आकर ही, शायद, मुक्तिबोध बाहर घूमने के शौकीन हो गए थे। बहुत बार मैं भी उनकी घुमक्कड़ी का साथी रहा था। घूमते हुए उनकी बहसों का सिलसिला जारी रहता था। चाय भी वे बहुत पीते थे। बाद में धूम्रपान की भी उन्हें आदत पड़ गयी थी।

उज्जैन में और बहुत से साहित्यिक बंधुओं से उनका मेल-जोल था। स्वर्गीय रमाशंकर शुक्ल ने उनकी काव्याभिरुचि को काफी प्रोत्साहन दिया था। श्री प्रभाकर माचवे भी उनके दोस्तों में से थे।

इन्दौर में जिन दिनों वे बी० ए० के विद्यार्थी थे, शान्ताजी के साथ उनका प्रेम-प्रसंग स्थापित हुआ। वहाँ वे अपनी बुआजी के पास रहते थे। पड़ोस में ही अपनी माँ के साथ शान्ताजी रहती थीं। इस प्रकार एक संयोग घटित हुआ। वे बताया करते थे कि किस कदर वह लड़की उन्हें प्यार करती है—दरवाजे पर नमक बिखेरकर अपने प्यार की अभिव्यक्ति चाहती है। शान्ताजी से शादी की बात का घर में काफी विरोध हुआ था। माता-पिता की ओर ऊँची आकांक्षा रही होगी या उन्हें मुक्तिबोध द्वारा स्वयं निर्वाचित रिश्ता पसन्द नहीं आता होगा। बहरहाल, मुक्तिबोध बराबर अपनी जिद् पर अड़े रहे और अन्त में जीत भी उन्हीं की हुई थी। उनकी शादी में मैं किसी वजह से शामिल नहीं हो सका था।

वैसे मुक्तिबोध कुछ फक्कड़ स्वभाव के जीव थे। घरेलू जिम्मेदारियों का उन्हें बहुत ही कम खयाल रहता था। बी०ए० करने के बाद सम्मिलित [illegible]रवार में जितनी सहायता की उनसे उम्मीद की जाती थी, उतनी वे [illegible] कर पाते थे। स्कूल मास्टरी से बहुत थोड़ा वेतन उन्हें मिलता था। अपनी साहित्यिक दुनिया में ही उनका अधिकतर समय बीतता था।

सरकारी नौकरी वे करना नहीं चाहते थे, मैं ऐसा नहीं समझता हूं। दरअसल अच्छी सरकारी नौकरी मिलती तो वे वहां भी जा सकते थे। वह नहीं मिली तो मास्टरी में ही मस्त हो गए। जहां तक उनके व्यावहारिक होने का सम्बन्ध है, मेरे विचार से वे बहुत ही समझदार व्यक्ति थे। आदमी को पहचानने और उसके स्वभाव का विश्लेषण करने तथा व्यक्तित्व को गहराई से परखने में भी वे बहुत निपुण थे। किन्तु, स्वभावतः वे व्यावहारिक बिलकुल नहीं थे। अपनी आदतों के वशीभूत वे दुनियावी मामलों में कुशलता नहीं बरतते थे, बल्कि समस्याओं से कतराते थे। दुनिया की समझ उन्हें खूब थी, लेकिन खुद दुनियादार वे नहीं हो पाते थे। चूंकि इस ओर शायद उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। आखिर निभाने को एक दुनियादारी वे निभाते ही थे, अलबत्ता वहां सफलता के लिए जिन राहों से गुजरना होता है, इस मामले में वे कुछ आलसी थे या उन्हें अपनी कविताओं से ही छुटकारा नहीं मिलता था।

उज्जैन तक ही हमारा साथ रहा था। उसके बाद हमारे रास्ते ही अलग-अलग हो गए थे। मैं यहां दिल्ली चला आया और वे जाने कहां-कहां की खाक छानते रहे। सुनने में आता रहता था कि वे हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कितनी ऊंचाई तक पहुंच गए हैं, विशेष यह भी नहीं। बीमारी के बाद दिल्ली में···वह सारा दुःखान्त नाटक तो आपको मालूम ही है। और जो प्रश्न आप चाहें पूछ सकते हैं। या कभी फिर आइए, शायद तब तक मैं कुछ और बातें याद कर सकूं।

उन्होंने पक्ष लेना शुरू कर दिया। इस पर पिताजी भीतर-ही-भीतर रजामंद हो गए होंगे। कहा: मैं कुछ नहीं जानता, जो तुम्हें करना हो कर लो।' खैर, मुक्तिबोध की जीत हुई। उनकी बुआ श्रीमती भागोबाई देवासकर शादी में शामिल नहीं हुई। अंतिम दिनों तक उनका भयंकर विरोध कायम रहा।

मुक्तिबोध की शादी बहुत मामूली ढंग से हुई थी, चूंकि दूसरा पक्ष उतना समर्थ नहीं था। एक मंदिर मे संपूर्ण विधियां सम्पन्न करा ली गयी थीं। इन्दौर से बारात लौटते समय की एक घटना मुक्तिबोध की लापरवाह घुमक्कड़ी वृत्ति पर बहुत अच्छा प्रकाश डालती है। चुंगी पर बस खड़ी हुई तो उन्हें थोड़ी दूर घूम आने की सूझी। मुझे साथ लेकर वे घूमते-घामते दूर निकल गए। उन्हें खयाल नहीं रहा कि दूल्हा होने के कारण उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। और लोगों ने भी हमारी ओर ध्यान नहीं दिया और बस घर पहुंच गयी। द्वार-प्रवेश के समय दूल्हे मियां की खोज शुरू हुई। ढूंढने के लिए सिपाही दौड़ाए गए। घर पहुंचने पर पिताजी सख्त नाराज मिले। मुक्तिबोध चुप रहे। ऐसे अवसरों पर चुप्पी साध लेना उनकी आदत थी।

कुछ दिनों के लिए मेरा ट्रांसफर उज्जैन से बाहर हो गया था। बीच में उज्जैन आया तो शरच्चंद्रजी ने बताया कि बाबू साहब (मुक्तिबोध) मिलिटरी मे चले गए हैं। मुझे आश्चर्य हुआ, चूंकि यह कार्य उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। उनके किसी साथी ने रंगरूटों को पढ़ाने के लिए वहां जगह की व्यवस्था कर दी थी। दूसरी बार फिर गया तो वे छुट्टी पर आए हुए थे। फिर वापस नहीं गए। रिमाइंडर आते रहे। उस अनुशासन में वे अपने-आपको एडजस्ट न कर पाए होंगे।

सन् १९५५ में पत्नी सहित मैं नागपुर गया। वहां बाबू साहब और बबन साहब (शरच्चंद्रजी) बहुत दिनों से थे। वहां मैं अपने भाई के यहां कुछ दिन रहा। मुक्तिबोध अपने साहित्यिक संघर्ष में लगे हुए थे, मुलाकात होती रहती थी। ए . उन्होंने मुझे खाने पर बुलाया। मैं तो

उनका घर-जैसा आदमी था, फिर भी उनमें मेहमाननवाजी का एक अपने ही ढंग का चाव था। उनका नयी शुक्रवारी का मकान आपने देखा होगा। आप चाहें उसे नर्क कहें, मगर मैं समझता हूं, मुक्तिबोध इस ओर विशेष ध्यान नहीं देते थे। जहां जैसी जगह हो वे रह सकते थे, जैसा खाने को मिल गया, खा लेते थे। इन छोटी-छोटी बातों की परवाह वे नहीं करते थे। वे इनसे ऊपर उठकर जीते थे।

चन्द्रकांतजी की शादी में शामिल होने के लिए हम सब सपरिवार उज्जैन आ रहे थे, तभी का यह किस्सा है कि वे नागपुर और इटारसी के बीच के एक छोटे-से स्टेशन पर चाय के चक्कर में गाड़ी से रह गए थे। मैं उन्हें बराबर कहे जा रहा था कि जल्दी कीजिए, गाड़ी छूट जाएगी, मगर वे तसल्ली से चाय पीते रहे. 'अरे साहब, गाड़ी कैसे चली जायेगी, हम चाय पी रहे हैं।' वे चाय पीते रहे और गाड़ी खिसक चली। मैं भाग-कर गार्ड के डिब्बे में चढ़ गया। वे चाय पीते रह गए। टिकट उन्हीं के पास थे। आगे का हाल तो आपको मालूम ही है। बबन साहब ने बताया होगा।

पुलिस विभाग मैंने १९५८ में छोड़ दिया था। मेरी बतौर कौंसिल स्टेनो नियुक्ति हो गयी थी। वहीं से मैं रिटायर हुआ हूं। मुक्तिबोध जब भी उज्जैन आते, मुझसे मिलते। वे उतने बड़े साहित्यकार होकर भी अपने पुराने दोस्त को कभी नहीं भूले थे।

अब और जो बातें आप पूछना चाहें, मैं तैयार हूं। कल हम उज्जैन के ऐतिहासिक स्थानों पर घूमने चलेंगे। फिर वे सभी स्थल आपको दिखाऊंगा, जहां मैं और मुक्तिबोध साथ-साथ घूमे-फिरे थे। रात की घुमक्कड़ी का आनंद कुछ और ही होता है। आप मेरी चिंता बिलकुल न करें। मैं अब भी दस-बीस मील आराम से पैदल चल लेता हूं और घूमने का मेरा वही पुराना शौक है।

अच्छा, फिर कल ···आप जब तक उज्जैन में हैं, हमारे यहां आते रहें। दशहरे के दिन भोजन हमारे यहां ही करना है।

६ : भगवंतशरण जौहरी

शिप्रा भवन, उज्जैन : ६-१०-१९७० : उज्जैन के माधव कॉलेज में मैट्रिक से इण्टर तक मुक्तिबोध मेरे सहपाठी रहे थे। साहित्यिक अभिरुचि के कारण हममें एक निकटता का भाव पैदा हो गया था। श्री प्रयागचंद्र शर्मा हमारे घनिष्ठ मित्रों में से थे। श्री रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' हमारे अध्यापक थे। कविता के क्षेत्र में 'हृदय' जी ने हम सभी को प्रोत्साहित किया। एक प्रकार से वे हमारे काव्य-गुरु थे।

तत्कालीन उज्जयिनी के साहित्यिक वातावरण में मुक्तिबोध की रुझान धीरे-धीरे नयी काव्य-प्रवृत्तियों की ओर बढ़ने लगी थी। इस परिवर्तन को मैंने और प्रयागचंद्र शर्मा ने मुक्तिबोध के युग-परिवर्तन के रूप में लक्षित किया था। हममें प्रवृत्तिगत भिन्नता उत्पन्न हो गयी थी, यद्यपि साहित्यिक स्तर पर हमारी घनिष्ठता सदैव बरकरार रही। बाद में श्री प्रभाकर माचवे भी हमारे बीच आ गए थे। वैचारिक दृष्टि से मुक्तिबोध माचवेजी के अधिक निकट थे। वैचारिक समानता को ही उनकी मैत्री का मूल कारण मानना चाहिए। मुक्तिबोध में वैसा कोई महाराष्ट्रीयन तत्त्व बिलकुल नहीं था, जो उन्हें दूसरे व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने में बाधक सिद्ध हो सकता था।

अपने व्यक्तिगत जीवन के कटु अनुभवों के समानांतर मैं हमेशा यह सोचता रहा हूं कि प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी रक्षा स्वयं क्यों नहीं कर पाता? मुक्तिबोध भी वैसे ही प्रतिभाशाली थे। मालवा से दूर भटकते

हुए जीवन-निर्वाह के सन्दर्भ में असुरक्षा का भाव उन्हें सदैव घेरे रहा। उनकी भयंकर रुग्णावस्था के दौरान जब मैं उनसे मिलने भोपाल गया था, तब इसी प्रश्न ने मुझे बहुत विचलित कर दिया था। मुक्तिबोध की मृत्यु के उपरान्त, दिल्ली में माचवेजी के निवास-स्थान पर, एक स्मृति-गोष्ठी मे भी मैंने इसी प्रश्न को वैचारिक स्तर पर उठाया था : प्रतिभा में क्या कमी होती है कि वह अपना संरक्षण नहीं कर पाती ? उक्त गोष्ठी का विवरण डॉ० श्याम परमार ने 'राष्ट्रवाणी' के मुक्तिबोध विशेषांक मे प्रस्तुत किया है। मुक्तिबोध के जीवन का सूक्ष्म अध्ययन करते समय उपरोक्त समस्या का सामना आपको भी करना पड़ सकता है।

७ : शेख मुईनुद्दीन साहब

होटल महाराज, उज्जैन : ६-१०-१९७० : आप प्रश्न पूछें, मिलमि
बता सकने की योग्य-स्थिति में शायद मैं नहीं हूं—कुछ दिनों से मैं
परेशान हूं।

मेरे और मुक्तिबोध के परिचय की पृष्ठभूमि एक ही कालि
विद्यार्थी होने तथा साहित्यिक अभिरुचि से निर्मित हुई कही जा स
है। हम दोनों माधव कालिज में पढ़ते थे और कविताएं लिखा करते
इस क्षेत्र में और भी अनेक विद्यार्थी थे। इस प्रकार एक वातावरण
गया था। 'हृदय' जी हमारे अध्यापक तो थे ही, वे हमें कविता की
प्रोत्साहित भी करते रहते थे। 'ध्रुव' नाम से हम एक हस्तलि
मैगज़ीन भी निकालते थे और काव्य-चर्चाओं के आयोजन के नि
हमने एक संस्था भी बनाई हुई थी। उस संस्था का नाम मुझे अब
नहीं आ रहा है।

मुक्तिबोध प्रेमचंद से बहुत प्रभावित थे। उन्हीं दिनों हमारी छा
वादी शैली को त्यागकर वे नये आन्दोलनों की ओर भी क्रमशः प्रवृत्त हो
रहे थे। धीरे-धीरे मेरे और उनके बीच प्रवृत्तिगत भिन्नता स्पष्ट हो
थी। मेरी छायावादी शैली को लक्षित कर वे कहा करते थे : 'एक प
बनाओ सोचने का, तभी मौलिक-सृजन की अपेक्षा उत्पन्न होगी!'
करना उनकी आदत थी। आदत क्या विवशता कहिए, बोलते थे तो
अपनी बात पर बराबर जोर देते चले जाते थे। मैं कहा करता था : '

तुम्हे वकील बनना चाहिए।'

"यू वे सन्त प्रवृत्ति के व्यक्ति थे—फक्कड़ और यार-बास, घुमक्कड़। कोतवाली मे पिटाई किए जाने से वे अपने पिताजी से रुष्ट रहते थे। अपराधियों को पीटा जाना भी उन्हे बर्दाश्त नही था !

मुक्तिबोध के उज्जैन छोड़ने के बाद हमारे दायरे अलग-अलगहो गए थे। बीच मे कभी ही मिलना होता था। मैं भोपाल मे उन्हे देखने गया, तो बेहोशी-सी की हालत मे भी वे मुझे पहचान गए थे। मेरा हाथ पकड़े हुए उनकी आखें डबडबा आयी थी। उसी अनुभूति पर मैंने एक कविता लिखी थी अंग्रेजी मे—आपको उसकी प्रतिलिपि भिजवा दूगा—वैसे वह माधव कॉलेज की मैगजीन मे प्रकाशित हुई थी।

८ : महेशशरण जौहरी 'ललित'

चन्द्रशेखर आजाद मार्ग, उज्जैन : ७-१०-१९७० : अरे भाई वर्मा जी, ऐसा भी क्या संकोच, मैं घर पर नहीं था तो आराम से बैठते। खैर, आइए···तुम्हारे पत्र मिले थे, जैसा-तैसा उत्तर लिख दिया था। बीमारी की वजह से सब अस्त-व्यस्त हो गया है। लगभग बारह वर्षों से मैं अत्यधिक बीमार रहता हूं, इसी कारण मुक्तिबोधजी पर 'वीणा' में प्रकाशित एक कविता के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिख सका हूं।

मुक्तिबोधजी के बारे में सोचता हूं, बहुत सोचता हूं—एक निःस्वार्थ साहित्य-सेवी, जो अब नहीं है, टूटने की नियति को उसने स्वयं चुना था। हम, अपनी आन पर जीनेवाले, झुकने का पाठ कभी सीख ही नहीं सके। मुक्तिबोध ने जीवन-पर्यन्त जो कुछ सहा-झेला, आखिर क्यों? क्या वे, जिसे लोग सफल जीवन कहते हैं, उसे पाने का प्रयास कर सकते थे? शायद नहीं, बिलकुल नहीं। वैसे सुरक्षा के प्रति उदासीन रहकर ही प्रतिभाएं अपना असाधारणत्व चरितार्थ करती हैं। मुक्तिबोध बंधनों को तोड़कर जिए, उन सारे बंधनों को जो आम आदमी को पेट पालने के लिए स्वीकार करने पड़ते हैं। वे उनमें से नहीं थे, जो सुखद स्थिति तक पहुंचने के लिए, भविष्य की सुरक्षा के खयाल से, जायज-नाजायज समझौते कर लेते हैं। इस लिहाज से, मैं समझता हूं, मुक्तिबोध हमारे युग की उस सम्पूर्ण ईमानदारी के प्रतीक थे, जिसकी महानता है ही इसी में कि जीवन की क्षुद्र यंत्रणाएं भोगते हुए अविचल रहे, विश्वास न खोए—मानवता के

उज्ज्वल भविष्य में, जहां सभी सुखी होंगे।

मुक्तिबोध मुझसे बड़े थे। मैं उनके छोटे भाई शरच्चन्द्रजी का हम-उमर हूं। वैसे वे अपना बड़प्पन किसी पर लादते नहीं थे, अपने छोटों के साथ भी घुल-मिल जाते थे, उन्हें मृदुल भाव से अपनाते थे। माधव कॉलिज के पास जो एक छोटी-सी चाय की दुकान है, वह उन दिनों भी थी। सन् १९४२ की बात होगी, वे एक दिन मुझे वहां ले गए। बोले : 'यह कैसे चलेगा ललित, यह प्रियवाद वगैरह? जमाना बदल रहा है।' मैंने जवाब में कहा था 'सोचकर जवाब दूंगा।' और सोचना क्या था, मैं प्रभावित हो गया था। यूं वे अपना स्नेह बिखेरकर प्रेरित करते थे, हेकड़ी उनके स्वभाव में नहीं थी। परिणामस्वरूप १९४३ में मैंने 'दो पैसे की परिभाषा'-जैसी कुछ सामयिक कविताएं लिखीं।

मुक्तिबोध ने एक पत्र मुझे लिखा था, जीवन में सिर्फ एक पत्र। वह अब मेरे पास सुरक्षित है। उसकी प्रतिलिपि यथाशीघ्र ही भिजवाऊंगा। उज्जैन आते थे, तो मुलाकात हो जाती थी—वही पुराना आदर-प्यार जाग उठता था।

इतना ही निवेदन करना चाहता हूं कि आदरणीय भाई गजाननजी मुक्तिबोध उच्चकोटि के स्वाभिमानी, स्पष्टवादी, निर्भीक, निर्मल, परमोज्ज्वल हृदय के मानव थे। उनका मानव हृदय महान् था, इसीलिए उनका सम्पूर्ण साहित्य भी वन्दनीय ही है। खेद इसी बात का है कि सम्पूर्ण जीवन ही उनकी उपेक्षा की गयी और उनका उचित मूल्यांकन नहीं किया गया।

अभी तो आप यहां हैं ही, मिलते रहना। और हां, खाने-पीने में लापरवाही मत बरतना—बीमारी की कुछ ऐसी ही हवा चल रही है। मैं तो चाहता हूं, यहीं घर पर खा लिया करो। अपना ही घर समझो, कभी भी आए और जैसा बना हो, साथ बैठकर खा लिया।

९ : डॉ० प्रभाकर माचवे

रवीन्द्रनगर, नई दिल्ली : १-१२-१९७० : अच्छा, पहले अपना
सिनॉप्सिस पढकर सुनाइये···ठीक है, एक लिहाज से बहुत अच्छा है;
आपकी योजना मुक्तिबोध को सारे प्रसगों-सम्बन्धों के माध्यम से समझने
की है। सामग्री भी आपने प्रायः सारी ही एकत्र कर ली है और बहुत-से
लोगों से व्यक्तिगत रूप में मिल चुके हो—उन सभी जगहों का भ्रमण-
अवलोकन कर लिया है, जहा-जहा मुक्तिबोध रहे थे। अब, इस स्थिति मे,
रे सहयोग की बात···जैसाकि आपको मालूम है, मुक्तिबोध के सम्बन्ध
मेरे कई लेख, कविताए आदि इधर-उधर प्रकाश में आ चुके हैं। उनमें
ी तथ्य-विवेचन उपलब्ध है, प्रस्तुत भेंट को लिखित रूप देते समय उसे न
। यह इस वजह से कह रहा हूं, शायद हमारी बातचीत मे थोड़ी-बहुत
नरावृत्ति आ सकती है।

मुक्तिबोध से मेरा परिचय इन्दौर में हुआ था। वहां उन दिनों मैं
क्रिश्चियन कॉलेज मे बी० ए० अन्तिम वर्ष का विद्यार्थी था, होस्टल में
रहता था। वीरेन्द्रकुमार जैन मेरे परिचित और मुक्तिबोध के सहपाठी
। उन्हीं के माध्यम से हम एक-दूसरे को जानने लगे थे। वे हमारे कॉमन
ड थे। मुक्तिबोध और वीरेन्द्र होलकर कॉलेज में पढ़ते थे। इन्दौर मे
ारी मेल-मुलाकात का प्रमुख कारण कविता के प्रति अभिरुचि—चाहे
जैसी भी थी—को ही माना जा सकता है। मुक्तिबोध उज्जैन के
धव कॉलेज मे रमाशकर शुक्ल 'हृदय' के विद्यार्थी रह चुके थे, उनके

काव्यादर्शों से प्रभावित भी थे। होस्टल के मेरे कमरे में हम कवियों की बैठकें हुआ करती थीं। हम अपनी संवेदनशील रचनाओं को पढ़ा-सुना करते थे, एक-दूसरे की आलोचना करते थे, सलाहें देते थे। 'कर्मवीर' हमारी कविताएं छापता था। 'कर्मवीर' के सहकारी सम्पादक श्री प्रभागचन्द्र शर्मा कभी इन्दौर आते तो हम लोगों से जरूर मुलाकात होती।

इन्दौर में मुक्तिबोध के साथ मेरे परिचय का स्वरूप बस इतना ही था। उसे घनिष्ठ नहीं माना जा सकता। वहां से मैं आगरा कॉलेज में चला आया। इसी दौरान मेरा परिचय वात्स्यायनजी से हुआ। नेमिजी से तो मेरा परिचय सन् १९३० से था। मैंने ही मुक्तिबोध का परिचय नेमि से कराया था। भारतभूषण अग्रवाल का भी परिचय मैंने ही मुक्तिबोध से कराया, बहुत बाद में यह हुआ। यही परस्पर परिचय बाद में 'तारसप्तक' के सहयोगी बनने की पृष्ठभूमि सिद्ध हुआ। उज्जैन के माधव कॉलेज में दर्शन के प्राध्यापक के रूप में मेरी नियुक्ति से पूर्व इन्दौर राष्ट्रीय मजदूर संघ का मन्त्रित्व, अहमदाबाद में ट्रेनिंग, बड़ौदा में हड़ताल कराना आदि अनेक प्रसंग हैं, जिनका सम्बन्ध मेरे जीवन से है, और चूंकि आपकी जिज्ञासा मुक्तिबोध पर केन्द्रित है, इसलिए उस विस्तार में आपको नहीं ले जाना चाहता हूं।

इधर मैं उज्जैन में था, उधर इन्दौर में मुक्तिबोध की प्रेम-लीला चल रही थी। अपनी बीमारी में, शान्ताजी की सेवाओं से, मुक्तिबोध इस कदर कृतज्ञ हुए कि उनके भावुक हृदय में हलचल पैदा हो गयी और उन्होंने एक ऐसा निर्णय ले लिया जिसका घर में भयंकर विरोध हुआ। मुक्तिबोध की लगन दीवानगी की हद तक सच्ची थी, चूंकि वे अन्य सभी ओर से विरक्त-से रहने लगे थे। इस प्रेम-प्रकरण में, अनायास ही, उन्होंने मुझे अपना विश्वासपात्र समझ लिया। मुझे मीडिएटर का उत्तरदायित्व निभाना पड़ा। कुछ दिनों के लिए उनके पिताजी का ट्रांसफर उज्जैन से बाहर हो गया था। मुक्तिबोध वहां से भागकर मेरे पास चले आए। एक दिन पैदल-पैदल शान्ताजी से मिलने महू पहुंच गए। मुझे उनकी स्थिति

किंचित ज्ञान नहीं। मैंने समझाया जीवन में प्रेम महत्त्वपूर्ण हो सकता है, लेकिन उसे सर्वस्व मान लेना गलती है। पहले तुम्हें अपनी बी० ए० की पढ़ाई पूरी करनी चाहिए। तब स्वावलम्बी होकर तुम अपने मन का विवाह कर सकोगे। इस तरह से जबरदस्ती मैंने उन्हें बी० ए० करने के लिए राजी किया। इसके बाद फिर वही मामला पेश आया, जिसका बीच-बिचाव करके हल ढूंढ लिया गया। चाहे नाराजी के वातावरण में ही, आखिर शादी हुई और मुक्तिबोध ने गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया।

उज्जैन के तत्कालीन साहित्यिक वातावरण और उस जमाने में मुक्तिबोध की मनोरचना के सम्बन्ध में मैं पहले ही बहुत कुछ लिख चुका हूं। शमशेरबहादुर सिंह की 'चांद का मुंह टेढ़ा है' की भूमिका लिखते समय भी काफी बातें बताई थीं। आप वह सब देख-पढ़ चुके होंगे। मुक्तिबोध चाहे उज्जैन के किसी स्कूल में रहे हों या शुजालपुर के शारदा शिक्षा सदन में, हमारी घनिष्ठता निरन्तर विकसित होती रही। आत्मीयता का तो यह हाल था कि मेरे कमरे की चाबी प्रायः उन्हीं के पास रहती थी। हम एक-दूसरे के कपड़े अदल-बदलकर पहन लिया करते थे। वैसे थे वे लापरवाह, मस्तमौला। एक बार चाबी खो दी और मुझे खबर तक नहीं की। पैसे खर्च करने में उन्हें आनन्द आता था—खासतौर से मित्रों के साथ चाय-पानी का बिल अदा करना वे अपना ही फर्ज समझते थे।··· मेरे साथ हुई मुक्तिबोध की बहसों का आज कोई हिसाब नहीं लगाया जा सकता। कुछ तो वह ऐतिहासिक दौर ही उत्तेजनापूर्ण था। दूसरे महायुद्ध के दिन, कुछ हमारी उम्रों का तकाजा···कभी-कभी जब मुक्तिबोध के सारे मार्क्सवादी तर्क चुक जाते और मैं उनसे सहमत न हो पाता तो उनका आश्चर्य सीमाएं छूने लगता था। गर्मागर्मी के बीच ही वे एकदम उखड़ उठते : अच्छा पार्टनर, अब हम चले। वैसे मौकों पर प्रभागचन्द्र शर्मा अपना रिमार्क देते थे : इंटलैक्चुअल कितना निकम्मा होता है। इधर मार्क्सवाद की बौद्धिक डॉक्टरी, उधर पचास रुपये की मास्टरी। कहाँ दुनिया के पूंजीपतियों की हवाई चीर-फाड़ और कहां शादीलाल की

डाट-डपट। शादीलालजी उज्जैन के दौलतगंज मिडिल स्कूल में हेडमास्टर थे। मुक्तिबोध अपने इन बॉस की दकियानूसी के किस्से हमें अकसर सुनाया करते थे।

उज्जैन छोड़कर, बनारस और जबलपुर प्रवास की दुर्गतियों का आनन्द लेते हुए, मुक्तिबोध नागपुर पहुंचे। सन् १९४८ में मैं वहां के रेडियो स्टेशन में सिर्फ एक माह तक रह सका। फिर मुझे इलाहाबाद जाना पड़ा। जमने-उखड़ने से ही मुझे फुर्सत नहीं मिली। इसलिए मुक्तिबोध के बारे में बस इतना ही जान सका कि उनकी फाकेमस्ती बरकरार है। १९५३ में रेडियो की नौकरी मुझे एक बार फिर नागपुर ले गयी। मुक्तिबोध सूचना-प्रकाशन विभाग से तंग आकर रेडियो स्टेशन में जगह पाने का प्रयास कर रहे थे। इसी सिलसिले की एक मजेदार घटना सुनाता हूं: उसका दफ्तर पास ही था। मुझसे मिलने वे रेडियो स्टेशन के मेरे कमरे में प्रवेश करते हैं। अगले दिन उनका इण्टरव्यू था और इण्टरव्यू-बोर्ड में मुझे भी बैठना था। स्टेशन के कुछ अधिकारी मेरे पास ही विराजमान थे। मैं नहीं चाहता था, इन लोगों को ज़रा-सी भी भनक पड़े कि मैं मुक्तिबोध का दोस्त हूं। इसीलिए मुक्तिबोध के साथ मैंने फॉर्मल-सी बात की। छोटे कमरे में एक ही कुर्सी थी, सो बैठने तक को नहीं कहा। नाराज होकर वे तुरन्त बाहर चले गए। बहाना बनाकर मैं अपना कमरा छोड़कर उनके पीछे गया और दूर ले जाकर समझाया-मनाया। मगर नहीं साहब, वे बुरी-भली कहे जा रहे हैं: 'अच्छे दोस्त हो तुम, न बैठने के लिए कहना, न बात करने की तमीज। ठीक है, पार्टनर'…और गालियों की बौछार। पुराने दिन उन्हें याद आ गए थे। आखिर कभी तो हम बचपन के मित्र थे ही। यह आप जानते ही हैं कि रेडियो में उनकी नियुक्ति कराने के लिए कैसे जुगाड़ भिड़ाने पड़े। नियुक्ति-बोर्ड नागपुर में 'नया खून' के माध्यम से उनकी उग्र कलम से आतंकित था। उसे जैसे-तैसे सन्तुष्ट किया गया।

…और नागपुर में मुक्तिबोध के साथ मेरी अच्छी निभी, हालांकि

वे जीवन के व्यावहारिक पक्ष के प्रति काफ़ी उदासीन रहते थे। हमारे आदर्शों में कोई भारी विरोध था, ऐसा नहीं है, बल्कि अपनी निर्धन गुज़ारे के मामले में जब वे मेरे सुझावों को बिना किसी वजह के टाल देते थे तो मेरा मन कुछ दुखी होता चला गया कि इन आदर्शों के व्यवहार में कुछ है कि उन्हें बर्दाश्त करना ही पड़ता है। उनके कोई सुधारने की मेरी स्थिति उतनी समर्थ नहीं थी और व्यावहारिक कुशलता में उन्हें दक्षता ही थी। मेरे और उनके सम्बन्धों में खिंचाव आने का मूल कारण यही था, जो शुरू तक—आप कह सकते हैं उनकी रुग्णावस्था तक—बराबर बना रहा।

मुक्तिबोध की बीमारी की सूचना से मैं भीतर-ही-भीतर तिलमिला उठा था। मेरी चेतना को गहरे मनस्ताप और पश्चात्ताप ने घेर लिया था। मैंने इसे लिखित रूप से स्वीकार किया है।···उनकी बीमारी के सम्बन्ध में 'धर्मयुग' में प्रकाशित अपने पहले लेख की प्रतिक्रिया को मैं कुछ हिन्दी लेखकों की निरी उहापोह समझता हूं। फिर भी, उससे प्रभावतः एक वातावरण का निर्माण हुआ और सभी ने अपने-अपने ढंग से पश्चात्ताप किया। मगर, जैसाकि होता आया है, बहुत देर हो चुकी थी। मुक्तिबोध की चिकित्सा-व्यवस्था और अंत्येष्टि-क्रिया के सम्बन्ध में मुझे कुछ भी नहीं कहना चाहिए···आप दूसरे लोगों से मिलें। मैंने जो कुछ किया वह कर्तव्य-भावना से किया।

अब तक अपने सम्पर्क में आए मुक्तिबोध के बारे में ही मैंने कुछ बातें बताई हैं। उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण करते समय हम तटस्थ दृष्टि से काम ले सकते हैं—

शुरू से ही विचार किया जाए। मुक्तिबोध के पूर्वज खानदेश (महाराष्ट्र) से उखड़कर ग्वालियर स्टेट में नौकरी करने आते हैं, पुराने परिवेश से सम्बन्ध टूट जाता है। इस उखड़कर जमने से एक नये वंश-वृक्ष का विकास होता है और उस टूटने के भीतरी दर्द की आबोहवा संस्कार का रूप ग्रहण करती है। ग्वालियर के मराठा राज्य में ब्राह्मण जाति को

प्रधानतः पण्डे-पुजारियों की कोटि का आदर प्राप्त था; धर्म-कर्म के मामलों में या विवाह-संस्कार आदि के अवसरों पर ही उन्हें याद किया जाता था। यही अस्तित्व-मान्यता उसकी जीविका का साधन भी थी। मुक्तिबोध परिवार व्यवसाय की भिन्नता के कारण अपने जाति भाइयों से विशेष मेल-मिलाप स्थापित नहीं कर सका था। माधवरावजी पुलिस महकमे में थे, वह भी थानेदार···यहाँ-वहाँ तबादला···उनका पूजापाठी होना, दबदबा और न्यायनिष्ठता—हमारे मुक्तिबोध ने कच्ची उम्र में इस सारी स्थिति को जिया-भोगा और परिणामस्वरूप जिस मनोभूमि का निर्माण हुआ उसमें एलिएनेशन के तत्त्व की बीज रूप में कल्पना की जा सकती है। मैं समझता हूँ, मुक्तिबोध के व्यक्ति-मन में यह स्थानान्तरगामी तत्त्व सक्रिय रहा, इसी ने उनके व्यक्तित्व को विलक्षणता प्रदान की।

एक ओर घर में परंपरावादी धार्मिक वातावरण, दूसरी ओर पिता की थानेदारी में भीषण अन्याय, सामंतशाही और नौकरशाही का आतंक। यूरोपीय साहित्य का अध्ययन, मार्क्सवाद का प्रभाव, राष्ट्रीय जागृति और स्वतन्त्रता आंदोलन···मुक्तिबोध के संवेदनशील मानस में खलबली पैदा होती है, मगर वे घर छोड़कर नहीं भागते, अपने घर में ही बेगाने बन जाते हैं। बेगानगी का आलम उन्हें फक्कड़ बना देता है। कोतवाली के अपने महलनुमा, सुविधा-सम्पन्न मकान में उनका दम घुटने लगता है··· किसी हम-खयाल के साथ जंगल-जंगल घूमना, यार-दोस्तों के साथ शहर की गलियाँ खूँदना, स्टालों पर बैठकर चाय की चुस्कियाँ लेना और दिल का गुब्बार निकालने के लिए जोशीली बहसों का लंबा दौर···यहाँ सब यों ही नहीं था।

जवानी आयी तो प्यार आया। प्यार-मुहब्बत का विरोध होता ही रहा है। यहाँ तो और भी मुसीबतें थीं—जाति, आर्थिक स्तर, लाड़ले बेटे की बहू के बारे में माता-पिता के अपने सुनहरे स्वप्न, सब आड़े आए। मुक्तिबोध की वफा रंग लायी, मगर क्या विरोध कभी कम हुआ? वह बराबर बना रहा। मुक्तिबोध ने स्वयं भी कौन वैवाहिक जीवन का

वास्तविक उत्तरदायित्व पूरी तरह वहन किया। यही कि जब संयुक्त परिवार में निभाव दूभर हो गया तो अपनी बीवी को लेकर शबे-मालवा को हमेशा के लिए अलविदा की और बाल-बच्चेदार होकर निरंतर आर्थिक विपन्नता के शिकार बने।

वकील बनना मंजूर नहीं किया, न देश के गुलाम रहते सरकारी नौकरी ही की, मगर नौकरी तो आखिर की ही। प्राइवेट स्कूलों की मास्टरी की लानतें कम नहीं होतीं। शारदा शिक्षा सदन एक सहारा बना था, वह भी वक्त के थपेड़ों में न टिक सका। अध्यापकी या संपादकी उन्हें कहीं रास नहीं आयी। स्थानांतरण का सिलसिला जारी रहा।··· और आज़ादी के बाद जैसे सारे सपने टूट गए। सारा माल चोर ले उड़े। कई स्वतंत्र-चेताओं को नये जेलखानों में बंद होना पड़ा—खुली हवा भी नसीब न हो सकी।

मुक्तिबोध को मैं एलिएनेशन का केस मानता हूं और इसी संदर्भ में कुछ सूत्र आपको दिए हैं। उनकी मित्रता के दावेदार बहुत मिल जाएंगे। यह दावेदारी कुछ लोगों में पश्चात्ताप का नक़ाबी रूप है। मुक्तिबोध की आत्मा का मित्र कोई था ही नहीं। वह बेचैन आत्मा छटपटाती रही; उस छटपटाहट का संगी-साथी कोई न हुआ—हो भी नहीं सकता था। अपने पथ का वह अकेला राही था। मित्रों से उनके अलगाव का रहस्य भी यही है। शायद आप समझ रहे हैं। यहां व्यक्तिगत बातों का जिक्र करना मैं अक्लमंदी नहीं समझता हूं···बिजन धुंधला जाएगी!

मुक्तिबोध की मानसिक क्रिया का आधार लेकर ही हम उनकी मृजनात्मक क्रिया के मूल स्रोत को टोह पा सकते हैं, यद्यपि उनके अनुभव की अभिव्यक्त विशिष्टता का अपना अलग महत्त्व है, जिसे काव्येतर प्रतिमानों की उतनी आवश्यकता नहीं है।···मातृभाषा को छोड़कर हिंदी को अभिव्यक्ति का माध्यम चुनना, भाषागत एलिएनेशन सिद्ध हुआ और परंपरागत जीवन-पद्धति के बीच मार्क्सवाद के प्रति प्रेम—शुरू से ही उत्कट प्रेम—अनुभव को सैद्धांतिक ढांचे में ढालने का प्रयास रहा है। पंडित

व्यक्तित्व के लिए मार्क्सवाद उपयोगी दर्शन है···व्यक्ति स्वयं पर कुछ नहीं लेता। मुक्तिबोध पार्टी मेम्बर बने, फिर उसे छोड़ दिया। उनके लिए कोई भी राजनीतिक दर्शन यदि जीने में पूरी तरह नहीं लेते तो वह निरर्थक हो जाता है। लेकिन मुक्तिबोध की विलक्षणता यह थी कि वे भारतीय चिंतन से विमुख कभी नहीं हुए, मार्क्सवाद में भी मेकैनिकल आस्था बिलकुल नहीं थी।···दूसरे महायुद्ध ने भयंकर संहार के समानांतर-मानवी मूल्यों में विश्वव्यापी खलबली मचाई और संक्रमणकालीन युग-संकट ने क्रांतद्रष्टाओं को आत्म-मंथन के लिए विवश किया। इस संक्रमण-काल में विवेकयुक्त संतुलन की नितांत आवश्यकता होती है। युगधारा जब मानवी धारा से विच्छुरित होती है तो एक बड़ी घटना घटती है। हिन्दी की कविता के क्षेत्र में मुक्तिबोध इसी घटना के बड़े प्रतीक हैं। इसी-लिए वे युग के कवि हैं। मार्क्सवादी सांचे को उन्होंने नये आंदोलन के चक्कर में आकर नहीं तोड़ा था; यह तो उनके भीतर ही टुकड़े-टुकड़े हो गया था। इस टूटने के दर्द को उनके व्यक्ति ने जिया, इसलिए उनकी कविताएं आत्मपरक हैं। किन्तु उनमें जो आत्म-मंथन है, वह युग का है, युग के व्यक्ति का है। आप इसे उनकी सापेक्षता का खंडित सत्य भी कह सकते हैं। यहां फिर अलगाव की स्थिति है: अपने जनवादी आदर्श के प्रति आस्थावान रहते हुए भी, मुक्तिबोध तथाकथित संकीर्ण प्रगतिवाद की लीक छोड़कर चलते हैं। वहां उन्हें निस्तार नजर नहीं आता। यह उनके कवि की ईमानदारी का बहुत बड़ा सबूत है। यह ईमानदारी ही उनके काव्य का सौन्दर्य है, भले ही पक्षधरता के हिमायती वहां प्रगतिवादी तत्वों को बटोरने में परेशान हुआ करें।

मैं फिर दोहराता हूं: कोई भी दर्शन यदि जीने में नहीं लिया जाता है तो वह निरर्थक हो जाता है। अपनी जगह जवाहरलाल के साथ भी यही हुआ, अपनी जगह मुक्तिबोध के साथ भी यही हुआ। यही कारण है उनके संत्रास अनुभव करने का। मन के एलिएनेशन का शरीर पर प्रभाव पड़ता है। मुक्तिबोध अपनी आइडियोलॉजी में जीते रहे, शरीर के स्वास्थ्य की ओर

अनुवाद की जरूरत है। कुछ पत्रों का अनुवाद मैंने किया भी था, लेकिन डर यह है कि इस प्रकार उनकी मूलता को कहां तक अक्षुण्ण बनाए रखा जा सकता है। यहां भी लोग यह अंदाजा लगा सकते हैं कि मैंने अनुवाद में कुछ हेर-फेर कर दिया होगा। 'आलोचना' में प्रकाशित पत्रों के बारे में बहुतों ने अपने-अपने ढंग से मुझे लिखा भी था, जो होना ही था, इसलिए कि वे बहुत व्यक्तिगत पत्र हैं, उनसे किसी साहित्यिक प्रवृत्ति पर प्रकाश पड़ता हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

मुक्तिबोध को लिखे मेरे बहुत-से पत्र रमेश के पास हैं। उन्हें देख लेने पर ही किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है, चूंकि तब मुझे सभी बातों का सिलसिला जोड़ने में सुविधा रहेगी, और अपने पास सुरक्षित पत्रों की तिथि का निश्चय भी मैं तभी कर सकूंगा। इस मामले में मैंने रमेश से बातचीत की थी, याद दिलाने के लिए उसे पत्र भी लिखना है।

अब आपकी जिज्ञासा का उत्तर न देने की मेरी स्थिति का आप अंदाजा लगा सकते हैं। जो विवशता मैं अनुभव कर रहा हूं, उसे आप अन्यथा न लें। ठीक यह रहेगा कि फरवरी के अंत में आप टेलिफोन कर लें, तब मैं सभी-कुछ बताने का प्रयत्न करूंगा, कुछ सोच भी लूंगा। मुनासिब-गैरमुनासिब की बात नहीं है, उसमें ऐसा क्या है। मैं चाहता हूं, सभी-कुछ ठीक-ठीक बताया जाना चाहिए।

५-४-७१:···और आपने कितना काम कर लिया है? मैं तो अभी तक उसी स्थिति में हूं—पत्र भी नहीं पढ़ सका, अनुवाद का काम भी वहीं तक है, न रमेश ने ही पत्र भिजवाये हैं। दूसरे कामों में व्यस्त रहा, और स्वास्थ्य तो आप देख ही रहे हैं, दो-एक दिन से बाहर जाने लगा हूं। लेकिन आपका काम···अब और टालना मुनासिब नहीं होगा, इसलिए··· आपके प्रश्न क्या-क्या हैं? शुजालपुर से लेकर सिलसिलेवार? बड़ा मुश्किल है याद कर पाना···देखिए, कोशिश करता हूं—

··· जैसाकि मैंने बताया भी था, शुजालपुर से पहले भी मेरी और मुक्तिबोध की मुलाकात हुई होगी, ऐसा मुझे ध्यान आता है, चूंकि उज्जैन में

माचवेजी के यहां मैं जाता रहा था, और वहां मुक्तिबोध उनके घनिष्ठ सम्पर्क में थे, इसलिए मिले जरूर होंगे, हालांकि उस परिचय को औपचारिक-सा समझना चाहिए। माचवेजी से तो मेरा पुराना परिचय था।

शुजालपुर जाने की भूमिका ? वह बहुत विचित्र है—आगरा से अपनी पैतृक समृद्धि की छत्रछाया छोड़कर वहां पहुंचना। १६४१ में अंग्रेजी में एम० ए० किया और फिर एम० ए० हिन्दी में प्रवेश लिया हुआ था कि तभी एक दिन माचवेजी का परिचय-पत्र लेकर डॉ० जोशी हमारे यहां पधारे। अपनी पुस्तक के प्रकाशन के सम्बन्ध में उन्हें मेरी सहायता अपेक्षित थी। उन्होंने अपने शारदा शिक्षा सदन के बारे में भी बताया। मैं कुछ दिनों से आगरा छोड़ने की फिराक में था। मार्क्सवाद के वैचारिक प्रचार और कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीतिक गतिविधियों से सबधित होने के कारण मेरा आगरा में होना निरापद नहीं रह गया था। जेल जाने की आशंका बराबर बनी हुई थी। इसीलिए, शायद गंभीरता से तो नहीं, मैंने डॉ० जोशी से निवेदन किया कि वे हमें भी अपने पास बुला लें। मेरी बात सुनकर वे बहुत खुश हुए। शुजालपुर पहुंचकर उन्होंने अपनी कमेटी से बात की होगी और तब मुझे उनका पत्र मिला कि मेरे लिए असिस्टेंट हेडमास्टर का पद खाली है। ४५ रुपये महीना मिलेंगे। वे हेडमास्टर थे और कुल ४० रुपये लेते थे। मेरे सामने कोई आर्थिक कारण बिलकुल नहीं था। घरवालों के विरोध के बावजूद मुझे वहां पहुंचना था और मैं सचमुच पहुंच गया—पत्नी सहित।

शारदा शिक्षा सदन में मेरे पहुंच जाने से एक नये ही उत्साह की लहर-सी फैल गयी। शुरू-शुरू में उस देहाती वातावरण के लोग मुझे कुतूहल-दृष्टि से देखते थे। डॉ० जोशी तो वहां गांधीजी के आदर्शों के साक्षात संवाहक के रूप में सम्माननीय थे ही, मेरा आगमन एक सम्भ्रांत कुल के त्यागी-जैसा स्वीकार किया गया। सभी को लगने लगा कि सदन अब किन्हीं अप्रत्याशित ऊंचाइयों को छूने वाला है। वह स्थिति ही कुछ वैसी थी। हमारे भीतर काम करने का अजीब-सा जोश था।

यहाँ मैं डॉ० जोशी के त्याग की बहुत-बहुत प्रशंसा करना चाहता था, लेकिन आपकी जिज्ञासा मुक्तिबोध पर केन्द्रित है, इसलिए चर्चा को आदर्शों की भिन्नता की ओर मोड़ना पड़ेगा। ग्वालियर राज्य के उस पिछड़े-से इलाके में स्वाधीनता आन्दोलन का ब्रिटिश इण्डिया-जैसा वातावरण नहीं था, फिर भी डॉ० जोशी गांधीजी के आदर्शानुसार जन-जागृति के लक्ष्य को पूरा करने में जुटे हुए थे। मैं गांधीवाद की राजनीतिक अक्षमताओं से परिचित था और देश की तत्कालीन परिस्थितियों में क्रांतिकारी योजनाओं का अवलंब अनिवार्य मानता था। प्रगतिशील विचारधारा के विकास के लिए मार्क्सवाद के सूक्ष्म विश्लेषण की आवश्यकता थी, इसलिए वैचारिक स्तर पर डॉ० जोशी से मेरा भयंकर विरोध था। मूलतः मेरी प्रवृत्ति काव्यात्मक थी। डॉ० जोशी का अन्दाज दार्शनिक का था। हमारे बीच में यह प्रवृत्तिगत भिन्नता एक अभाव का निरन्तर आभास कराती रहती थी, जिसे मुक्तिबोध ने आकर दूर किया।

डॉक्टर जोशी, मैं और मुक्तिबोध—सीधी-सीधी सच्चाइयों का द्वंद्व शुरू होता है। बर्गसां के अध्येता डॉक्टर जोशी, गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों में दत्तचित्त और उन्हीं से प्रेरित घोर आदर्शवादी। मुक्तिबोध की स्थिति एकदम विचित्र थी। उन्होंने युंग और एडलर को पढ़ा था। बालज़ाक, फ्लाबेयर, गोर्की आदि उनके प्रिय लेखक थे, भौतिकवाद की ओर भी उनमें रुझान थी, लेकिन थे वे कोरे कवि-कलाकार ही—बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक ऊहापोह से ग्रस्त, अपने भोले भाव में पूरे रोमांटिक। डॉक्टर जोशी का आदर्शवाद और मुक्तिबोध का कोरा कवि-कलाकार मेरे मार्क्सवाद के बौद्धिक आधार पर निर्मित समाज को उसकी समूर्णता में देखने के दृष्टिकोण से टकराते हैं। कवि होने के नाते मेरे और मुक्तिबोध के रिश्ते में एक गहरी समानता थी और इस स्तर पर डॉक्टर जोशी कभी-कभी हम दोनों के सामने अकेले पड़ जाते थे। राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं के वैज्ञानिक विश्लेषण के धरातल पर मुझे उन दोनों महारथियों से टक्कर लेनी होती थी। लेकिन एक

स्थल पर हम तीनों मिलते-जुलते थे, बिलकुल एक-से—हम बौद्धिक जिज्ञासाओं का ईमानदारी से समाधान खोजने के पक्ष में रहते थे, और यही वजह है कि दिन-रात की लम्बी-लम्बी बहसों के संघर्ष के बावजूद हमारे बीच के सद्भाव को कहीं भी व्यवधान अनुभव नहीं होता था। मेरे सहयोग का जो भी श्रेय रहा हो, परिणाम यह हुआ कि अब डॉक्टर जोशी पूर्णतः और मुक्तिबोध विचारतः मार्क्सवादी और कम्युनिस्ट बन गए थे।

शुरू-शुरू में कार्य के अभाव का प्रश्न मेरे ही सामने आया था। डॉक्टर जोशी तो अपने लक्ष्य में दत्तचित्त थे ही और मुक्तिबोध को कलाकार के भीतरी संसार में जीने की अद्भुत आदत थी। मैंने अपने अभाव को उन लोगों के विचार-परिवर्तन के माध्यम से भरने की चेष्टा की थी, जिसे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। इसके बाद···

उधर देश की राजनीतिक परिस्थितियां नित्य नये मोड़ ले रही थी···स्वाधीनता संग्राम की सरगर्मी, कम्युनिस्टों की पकड़-धकड़···कार्य की प्रकृति स्पष्ट नहीं रह गयी थी—इधर शुजालपुर का शारदा शिक्षा सदन—कहने को वह मिडिल स्कूल ही था—एक संस्थान का रूप ले चुका था, उसे ही हम अपना रचनात्मक आधार बनाना चाहते थे। स्त्रियों की क्लासें, विद्वतापूर्ण भाषण, इंदौर-उज्जैन की कम्युनिस्ट गतिविधियों से संपर्क···लेकिन क्रांतिकारी राजनीति में सक्रिय भाग लेने की हमारी भावना की अभिव्यक्ति के लिए वह स्कूल काफी नहीं रह गया था। इस वास्ते एक योजना बनाई गयी। डॉक्टर जोशी सदन की हेडमास्टरी से त्यागपत्र देकर कानपुर चले गए। उनके पीछे हेडमास्टरी मुझे संभालनी पड़ी। कानपुर जाकर डॉक्टर जोशी को मुझे और मुक्तिबोध को बुलाना था, लेकिन वे संपर्क स्थापित न कर सके। बाद में मैं भी सदन छोड़कर आगरा चला गया। मुक्तिबोध वहीं रह गए। इस प्रकार एक बिखराव घटित हुआ।

शुजालपुर-निवास के बारे में सोचता हूं तो आज भी मन आह्लादित हो उठता है; चेतना में उसकी मधुर स्मृति कौंधने लगती है। वहां रहकर

एक अपने ही ढंग की स्फूर्ति का हमने अनुभव किया था, यद्यपि तथ्यों का विवरण आज प्रायः याद नहीं रह गया है। मुक्तिबोध ने वहां की उस संगति में रहकर अधिक वैज्ञानिक, मूर्त और तेजस्वी दृष्टिकोण प्राप्त किया, जो बाद में उनके चिंतन की आधारभूमि और आगामी विकास का कारण सिद्ध हुआ। विचारों के आदान-प्रदान का ही यह परिणाम था कि आत्मविश्वास की दृढ़ता हमारे व्यक्तित्व का अंग बन गयी थी। पुराने बौद्धिक आतंकों से हमने अनायास ही छुटकारा पा लिया था। उज्जैन में रहते हुए मुक्तिबोध जिस बौद्धिक विडंबना से संत्रस्त थे, मैं भी आगरा से उसका शिकार चला रहा था, लेकिन यहां हमने उससे मुक्ति ही नहीं पा ली थी, बल्कि उल्टे वही हमारे सामने उपहासास्पद लगने लगी थी।

आगरा से शुजालपुर जाते वक्त मैं हजारों की संख्या में अपनी पुस्तकें साथ ले गया था। दर्शन की अच्छी सामग्री डॉक्टर जोशी के पास थी। इस प्रकार उस छोटी-सी जगह में पुस्तकालय-जैसी सुविधा हम सभी सहयोगियों को प्राप्त हो गयी थी। अध्ययन-मनन और परस्पर की चर्चाओं के माध्यम से अपनी मौलिकता की भरसक अभिवृद्धि का हमारे पास पर्याप्त अवसर था। इसके अतिरिक्त अपने-अपने सृजन की ओर भी हम प्रवृत्त रहते ही थे। प्रत्येक नयी रचना की सर्वांगीण आलोचना होती थी।

मेरी और मुक्तिबोध की घनिष्ठता का मूल कारण हमारी साहित्यिक अभिरुचि को ही माना जा सकता है। मुक्तिबोध ने अपनी पुरानी छायावादी भावुकता को छोड़कर प्रगतिशील मूल्यों को अपनाने में उस संसर्ग से पूरा-पूरा लाभ उठाया। सहायता जैसे शब्दों का प्रयोग करने में संकोच होता है, लेकिन उस सहयोग के प्रति मुक्तिबोध में कृतज्ञता का भाव सदैव बना रहा। एक-दूसरे के प्रति हमारे अनुराग के स्वरूप में भिन्नता का कारण भी कदाचित् यही था। जैसे किसी मार्गदर्शक को, उनका आदरपूर्ण स्नेह मुझे जीवन-पर्यन्त मिलता रहा। यह भी मैं स्पष्टतापूर्वक कह सकता हूं कि जैसी भावाकुल संबद्धता वे मेरे प्रति अनुभव

करते थे, वैसी उनके प्रति मुझमें नहीं थी। मेरे प्रति उनके हृदय में स्वार्थ-रहित भरोसे की जो भावना शुजालपुर में उदय हुई थी, मैं भी उसका यथासंभव निर्वाह करता रहा, यद्यपि हमारी जीवन-धाराओं को एक साथ मिलकर बहने का सुयोग फिर कभी नहीं मिला।

शुजालपुर में हमने अपने जीवन का अल्पांश ही बिताया था, लेकिन वह इतना सौंदर्यशाली था कि बिछड़ने के बाद भी हमारी मित्रता का सूत्र कभी नहीं टूटा। हमारी घनिष्ठता, चाहे वह पत्र व्यवहार तक ही क्यों न सीमित रही हो, निरंतर पनपती रही। कलकत्ता, बंबई और इलाहाबाद में वे मेरे पास कुछ दिनों के लिए आए-रहे, मगर जमकर रहना उन्होंने कभी मुनासिब न समझा। ज़िन्दगी के व्यावहारिक पक्ष के साथ समझौता न करने की उनकी ज़िद बराबर बरकरार रही। मुझे लगता है, यदि वे कहीं भी मेरे कहने पर साथ रहना मंजूर कर लेते तो, मैं उन्हें जैसाकि मेरी इच्छा रही थी, एक लिहाज से थोड़ा-बहुत व्यावहारिक बनाने में सफल हो सकता था। लेकिन आज मेरी उस इच्छा की यह कहकर उपेक्षा की जा सकती है कि तब मुक्तिबोध अपने सृजन के उन ऊंचे क्षितिजों का स्पर्श न कर पाते। शायद लोगों को कलाकार की दुर्गति भुगतने की अदाएं ज्यादा आकर्षित करती हैं।

पूरकता : मुक्तिबोध अपने व्यक्तिगत जीवन की अनेक अंतरंग बातें मुझे बताया जरूर करते थे, लेकिन आज उन्हें याद कर पाना मेरे लिए संभव नहीं है। बाद में पत्रों के माध्यम से जो-कुछ मुझे ज्ञात होता रहा उसके लिए पत्रों को पढ़ना आवश्यक है।

प्रेम-प्रकरण के सम्बन्ध में ? ···बस यही, जैसा आप बतला रहे हैं, मुझे भी मालूम है। यह मैं नहीं मानता हूं कि शांताजी को लेकर पश्चात्ताप का कोई भाव उनके मन में था, बल्कि मैं तो कहूंगा कि वे बहुत अनुरागी थे। इस बात से भी आप अंदाजा लगा सकते हैं कि उनकी कविता में इस प्रकार की कुंठा कहीं ढूंढ़ने से भी नहीं मिलती। जाहिर है कि वे इस मामले में पूर्णतः संतुष्ट थे। टेंशन के कुछ घरेलू कारण रहे होंगे। यह भी

कि वे उनकी आकांक्षाओं में उस हद तक तो साझीदार हो भी नहीं सकती थी।

और जो भी आप पूछना चाहें'''फिर कभी आप समय निश्चित कर लेना। तब तक शायद मैं पत्रों को पढ़ लूंगा और हम विस्तार से बात कर सकेंगे।

११ : रोहिणीकुमार चौबे

शिक्षकनगर, दुर्ग : २७-६-१९७० : मेरे बारे मे आपको किस
बताया ? वैसी कोई बात नही है, यू ही पूछ रहा रहा था। यह सौभाग
की बात है कि आप उनके सम्बन्ध मे मुझसे जानकारी हासिल करन
चाहते हैं, जिनका मैं बहुत आदर करता था—ही वाज़ रियली ए मैन
ऑफ जीनियस! मैं आजकल यहा नेशनल हाई स्कूल मे अध्यापक हूं, किन्
एक लम्बी अवधि तक मेरा सम्पर्क कम्युनिस्ट पार्टी की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष
गतिविधियो के साथ एक एक्टिव मेम्बर के रूप मे रहा था। उसी
सिलसिले में मुक्तिबोध से मेरा परिचय हुआ था, यद्यपि हमारी घनिष्ठता
उनके राजनादगाव आने के उपरान्त ही स्थापित हुई। सन् १९४७ मे
राहुलजी की अध्यक्षता मे सम्पन्न अखिल भारतीय हिन्दी प्रगतिशील
लेखक सम्मेलन मे हम पहली बार मिले थे।

शुरू मे ही मैं यह कह देना चाहता हूं कि मुक्तिबोध पक्षधर
साहित्यकार थे। मार्क्सवाद के प्रति उनका रुझान बहुत पहले से ही था।
पार्टी की नीति के प्रति उनमे गहरी आस्था थी—ही लिव्ड एण्ड डाइड
ए कम्युनिस्ट, नो डाउट इन हिज़ आन वे! निस्सन्देह भारतीय कम्युनिस्ट
पार्टी के इतिहास की जानकारी आपके लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है।
मैं सक्षेप मे आपको व्यक्तिगत संदर्भ में वह सब बता सकता हूं···। मेरा
निवेदन है कि जिन व्यक्तियो का मैंने जिक्र किया है उनका नामोल्लेख
आप न करें। व्यर्थ का झझट पालने से क्या फायदा! वैसे रजनी पामदत्त

सन् १९४६ मे मैं नागपुर मे मुक्तिबोध से मिला था। वस्तुत. 'न्यू एज' के हिसाब-किताब के लिए मुझे उनके पास जबलपुर भेजा गया था, जहा से यह मालूम हुआ कि वह नागपुर पब्लिसिटी डिपार्टमेंट मे चले गए हैं। नागपुर मे रेलवे फेडरेशन का भी कुछ काम था, मुक्तिबोध से भी मुलाकात हुई। संक्षिप्त-सी बातचीत से मैं यह अन्दाजा लगा सका कि वह बहुत लगन और उत्साह से अपने काम मे जुटे हैं और उन्हें यह विश्वास-सा था कि क्रान्ति अब होने ही वाली है। इस मुलाकात के बाद लम्बी अवधि तक हमारी जीवन-धाराए अपने-अपने ढंग से बहती रही। बहुत दिनो से मैं यहा दुर्ग मे ही हूं। यहीं एक दिन मालूम हुआ कि राजनादगांव मे उन्हे लेक्चररशिप मिल गयी है। अब हम पास-पास थे, बराबर आना-जाना रहा।

व राजनादगांव मे पहली बार मैं उनसे मिलने गया, वह बसन्तपुर मे। मैंने कहा : कहिए साहब, पहचाना ? उन्होने अपरिचय का भाव किया। मेरे अपना छद्म नाम बताने पर उनको पुरानी याद ताज़ा। राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, राजनैतिक और साहित्यिक चर्चाओ मे फी देर तक व्यस्त रहे। अपनी कविताओं के बारे मे भी उन्होंने ... - हमारी कविताएं आप नहीं पढ़ते या यह शौक आपको नही है? और इधर-उधर की बहुत-सी बातें हमने कीं। मैं तो उनका पुराना परिचित था, मेरी विचारधारा से भी वह अनभिज्ञ नही थे, अन्यथा अपने पास मिलने आए नये लेखक से वह शुरू मे ही, बातचीत का सिलसिला जुड़ते ही, पूछ लिया करते थे : पार्टनर, पहले अपना पॉलिटिक्स साफ करो—ह्वाट इज़ योर पॉलिटिक्स ? उसी विचार-बिन्दु से वह अपने परिचय और बातचीत को आगे बढ़ाते थे।

जैसाकि मैं पहले ही कह चुका हूं, मार्क्सवाद के प्रति वह अत्यधिक आस्थावान थे। भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप उसे लागू करने के प्रयास मे वह एक कलाकार की हैसियत से फार्म एण्ड कांटेंट के बारे मे निरन्तर चिन्तन करते रहते थे। इस प्रकार उनके सत्य का अपना स्वरूप था।

सैद्धान्तिक कठमुल्लापन से वह कोसों दूर थे।

सन् १९६३ में मुक्तिबोध दो बार दुर्ग आये थे—एक बार शिक्षक संघ के वार्षिक सम्मेलन के उद्घाटन के लिए और दूसरी बार गांधी जयन्ती के अवसर पर नेशनल हाई स्कूल की छात्र परिषद् के उद्घाटन हेतु। शिक्षकों के समक्ष अपने लिखित भाषण में उन्होंने काइसिस ऑफ़ केरेक्टर की चर्चा की थी, जिसे बहुत पसन्द किया गया था। दूसरे अवसर पर 'हिन्दी भवन' में द्विवेदी-युग के लेखक श्री पतिराम साव की अध्यक्षता में लेखकों की एक बैठक भी हुई थी। मुक्तिबोध ने नयी कविता और युग-संस्कृति के सम्बन्ध में भाषण दिया था। वह धाराप्रवाह बोले थे और उपस्थित लोगों ने उनकी बातों को मन्त्रमुग्ध होकर सुना था। अध्यक्ष पद से श्री साव ने कहा था: कोशिश करने पर भी हम पुराने, नई प्रवृत्तियों को हृदयंगम करने में असमर्थ रहे हैं, किन्तु आज मुक्तिबोधजी के भाषण को सुनकर पहली बार मैं यह समझ सका हूं कि नई कविता सचमुच जीवन के अस्तित्व के साथ जुड़ी हुई है।

चिन्तन की दुनिया में विचरण करनेवाले व्यक्ति अपने शरीर के प्रति थोड़े लापरवाह होते हैं। मुक्तिबोध भी थे। गरीबी ने उन्हें और लापरवाह बना दिया था। संतुलित भोजन उन्हें अपने साहित्यिक जीवन में शायद ही कभी नसीब हुआ हो। ऊपर से चाय और बीड़ी का सेवन करते हुए वह रात-दिन काम में व्यस्त रहते थे। वस्तुतः गरीबी उनकी मृत्यु का प्रमुख कारण थी।

मेहमाननवाजी उनकी व्यावहारिकता का अंग थी। उनकी रुग्णावस्था का समाचार पाकर मैं अपने कुछ सहयोगी शिक्षकों के साथ उनसे मिलने राजनांदगांव गया था। सभी को चाय पिलाए बिना उन्होंने जाने नहीं दिया: अजी साहब, यह कैसे हो सकता है! पहले-पहले अपने इलाज के लिए कोष की योजना की बात सुनकर वह बहुत विचलित हो गये थे। जब भोपाल अस्पताल में थे तब थोड़े-से पैसे जमा होते ही उन्हें राजनांदगांव के कम्युनिस्ट नेता श्री प्रकाशराय की बीमार पत्नी का ध्यान हो आया था

और उन्होंने मनिआर्डर द्वारा पचास रुपये उनके पास भिजवाए भी थे हालांकि श्री राय ने उनका मन रखने के लिए पाच रुपये लेकर शेष को लौटा दिया था।

यह मैं नही मानता हू कि जीवन-काल मे मुक्तिबोध अलक्षित रहे। वहां युवा पीढ़ी की प्रगति के वह प्रतीक थे। आज जिसे प्रतिष्ठित होना समझा जाता है, उस ओर उनकी गति नहीं थी—वैसी प्रतिष्ठा प्राप्त करने को वह अवसरवाद मानते थे और उसे नफरत की निगाह से देखते थे।

१२ : शैलेन्द्रकुमार

नयी शुक्रवारी, नागपुर : १२-६-१९७० हाँ, याद है, [illegible] जो मुझे कुछ भी याद नहीं आ रहा। वह यहाँ नागपुर में कब आए थे, एकदम ठीक तिथि तो मुझे याद नहीं, १९४९-५० के आसपास मान लीजिए। हम अखबार द्वारा परिचित थे। मैं तब भी 'नवभारत' में ही था। मेरे विषय में, मेरी विचारधारा के बारे में उन्होंने सुना हुआ था। मेरी भी उनके बारे में जानकारी थी। मुझे ढूंढ़ते हुए वह मेरे दफ्तर में आए थे। पहली ही भेंट में हम [illegible] मिले। मैं मानता हूँ, वह कितने मित्र-स्नेही थे। वह धन्तोली के किसी लॉज में ठहरे थे। मैंने उन्हें अपने घर बुलाया। राजनीतिक, सामाजिक आदि विषयों की चर्चाओं में हम इतने खो गए कि मैं उन्हें छोड़ने जा रहा हूँ, वह मुझे छोड़ने आ रहे हैं, मगर बात का सिलसिला खत्म नहीं हो पा रहा था। धीरे-धीरे हमारी मुलाकातों ने घनिष्ठता का रूप ले लिया। विश्वास पाकर वह मित्र-समर्पित हो जाते थे।

अब मुक्तिबोध मेरे घर के पास ही जोहरीपुरा (नयी शुक्रवारी) की एक गली में रहने लगे थे। तब वह पब्लिसिटी डिपार्टमेंट में काम करते थे। उन दिनों रामकृष्ण श्रीवास्तव (स्वर्गीय) मेरे साथ ही 'नवभारत' में काम करते थे और नयी शुक्रवारी में ही रहते थे। विद्रोहीजी भी हमारे नयी शुक्रवारी के पड़ोसी थे। इस प्रकार हमारा एक मित्र-मंडल , गया था। समान विचारधारा के कारण हमारी मित्रता घनिष्ठतर

होती गयी। सर्वश्री मावे, अनिलकुमार, भाऊ समर्थ, नरेश मेहता, दामोदर सदन, प्रमोद वर्मा, हरिशंकर परसाई, श्रीकान्त वर्मा, शरद कोठारी और अन्य अनेक समय-समय पर हमारी उस मित्र-मण्डली की शोभा बढ़ाते रहे थे। प्रगतिशील विचारों के आदान-प्रदान के निमित्त हमने 'किरण' साहित्य-गोष्ठी का निर्माण किया था। गोष्ठी का कोई स्थायी कार्यालय कहीं नहीं रहा, कहीं भी सुविधानुसार उसकी बैठकें होती रहती थीं। उसके नामकरण पर शायद बंगला का प्रभाव रहा होगा।

तत्कालीन नागपुरी वातावरण में हमारे विचारों को विद्रोही समझा जाता था, इसलिए विरोध का एक सामान्य माहौल हमारे चारों ओर बनता गया। मुक्तिबोध की स्थिति विचित्र थी। विरोध का प्रत्यक्ष सामना उन्हें ही विशेषतः करना पड़ा। एक तरह से वह सबस्व थे। सूचना-प्रकाशन विभाग से सम्बन्धित होने के कारण उन पर पहले नजर पड़ती थी। उनके प्रति विरोध के अनेक रूप थे। विभागीय पद-दृष्टि से उनका स्थान एक मामूली क्लर्क-जैसा था; बौद्धिक दृष्टि से वह अपने अफसरों से ऊंचे, बहुत ऊंचे थे। अपनी कुर्सी पर बैठकर वे मुक्तिबोध की बौद्धिक ऊंचाई को देखते थे और मन में ईर्ष्या रखते थे।

अकस्मात मानसिक हीनता की कुत्सित वृत्ति के शिकार हो गए थे। मुक्तिबोध को आर्थिक क्षति पहुंचाने के विविध प्रयत्न किए गए। नौकरी तो वे खैर क्या छुड़वा सकते थे, मगर एडमिनिस्ट्रेटिव आदि दफ्तरी कार्यवाहियों का अवसर उन्होंने कभी हाथ से नहीं जाने दिया। उनका इरादा यह रहा कि तंग आकर वह नौकरी छोड़ जाए, चूंकि मुक्तिबोध की निकटता से उन सबकी प्रतिष्ठा कम हो रही थी। मुक्तिबोध की कान्फिडेंशियल रिपोर्ट एण्ड रिकॉर्ड जान-बूझकर खराब किए गए। इस घिराव के विरुद्ध दफ्तर में वह संगी-साथी-विहीन थे। लोग डरते थे, कहीं उन्हें फेवर देने के चक्कर में हमें रगड़ा न पड़ जाए। विशेष व्यक्ति ही उनके पक्षधर हो सकते थे।

प्रगतिवादी कहलाने वालों का विरोध भी मुक्तिबोध को सहन करना

पड़ा। वस्तुतः वे सब प्रगतिशील नहीं थे, बस समझे जाते थे। उनकी चाल-ढाल, रहन-सहन, व्यवहार आदि सब अवसरवादी था और उनकी प्रगति का स्वरूप एक ढर्रे के सहारे निहित स्वार्थों का पोषक। मुक्तिबोध ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष इस ढोल की पोल को उघारने का प्रयास किया, खोखलेपन को उजागर किया। अपने प्रभाव को क्षति पहुंचते देख वे तिलमिला उठे। पुरानी परम्परा के साहित्यिक मठाधीशों को तो मुक्तिबोध से पहले ही चिढ थी, इधर प्रगतिवादियों का सहयोग भी उन्हें प्राप्त हो गया। 'विदर्भ साहित्य सम्मेलन' ने मुक्तिबोध की सदैव उपेक्षा ही की, उन्हें साहित्य-समाज से निष्कासित करने का असफल प्रयत्न जारी रखा। तथाकथित साधन-सम्पन्न साहित्यकारों की दुनिया के मुकाबले में मुक्तिबोध ने अपने मंडल को कदाचित् प्रभाहीन न होने दिया। नयों को इधर ही सूर्योदय के लक्षण नजर आते थे।

मुक्तिबोध ड्यूटी के पाबन्द नहीं थे, यह एकदम गलत है। किसने बताया कि वह रेगुलर या डिसिप्लिंड नहीं थे? थोड़ा देर से जाते होंगे, चूंकि नब्बे प्रतिशत वह घर से पैदल ही दफ्तर जाते थे। साइकिल तक उनके पास नहीं थी। अलॉटिड-वर्क को वह मनोयोगपूर्वक, मेहनत से निपटाते थे। व्यर्थ का दिखावा अलबत्ता उन्हें नापसन्द था, और जी-हुजूरी की तो उनसे कोई उम्मीद नहीं थी। एक ओर उनका अहं सच्चा था, दूसरी ओर सारा दीन-ईमान टुच्चा था। इस प्रतिकूल स्थिति में उनका अस्तित्व अकेला पड़ जाता था, यद्यपि अपने विश्वास के प्रति उनका सम्मान कभी कम नहीं हुआ। यहां-वहां विशेष व्यक्तियों की पक्षधरता उन्हें उत्साहित किए रहती थी।

सूचना-प्रकाशन विभाग के वेतन से उनका गुजारा नहीं होता था। आर्थिक दशा अत्यधिक शोचनीय थी। रेडियो में अच्छे पैसों की नौकरी मिली तो उन्होंने विभाग छोड़ दिया। तभी नयी शुक्रवारी के पुराने कच्चे मकान को छोड़कर वह गणेश पेठ में रहने लगे थे। फिर रेडियो की नौकरी भी उन्हें छोड़नी पड़ी, चूंकि महीने के कांट्रैक्ट बेसिस पर भोपाल

जाना उन्हें मंजूर नहीं था। नयी जगह आकर जमने की आशंका या यहां का मोह भी थोड़ा-बहुत उनके मन में रहा होगा। सोख्ताजी से 'नया खून' में काम करने का आश्वासन भी उन्हें ऐन वक्त पर मिल गया था।

'नया खून' एकदम कृष्णानन्द सोख्ता (स्व०) का पत्र था। सोख्ता जी उग्र स्वभाव के जरूर थे, मगर ईमानदार और फक्कड़। 'नया खून' में लिखनेवाले हमीं लोग थे, यद्यपि नौकरी के खतरों के कारण प्रायः छद्म नाम से ही लिखते थे। मुक्तिबोध का योगदान विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण था। राजनीतिक, साहित्यिक, सामाजिक आदि लेखों द्वारा वह क्रान्तिकारी विचारों का प्रसार करते थे, जिसकी अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रियाएं होती रहती थीं। सबको मालूम था कि वही सब-कुछ लिखते-लिखवाते हैं, मगर कर कोई क्या सकता था, सोख्ताजी के उग्र रूप से सारा नागपुर परिचित था! आकाशवाणी छोड़ने पर मुक्तिबोध ने 'नया खून' का खुला सम्पादन किया।

सोख्ताजी से अनबन के कारण मुक्तिबोध ने 'नया खून' का सम्पादन-कार्य नहीं छोड़ा। एक तो उन्होंने एम० ए० कर लिया था, लेक्चरर की जगह मिल रही थी, दूसरे वह चेंज चाहते थे, चूंकि मूलतः लिटरेरी आदमी थे। कहते थे : मेरा लेखन यहां पत्रकारिता में बन्द पड़ गया है, बहुत-कुछ लिखना चाहता हूं, वह सब यहां सम्भव नहीं है। अतः राजनांदगांव चले गए। वहां से यहां जब भी आते थे, मुझसे जरूर मुलाकात होती थी।

मुक्तिबोध का पारिवारिक जीवन प्रायः सुखी था। झगड़े ? वे कहां नहीं हैं ? हम मध्यवर्गीयों में सब चलता है। वह घर से उदासीन नहीं रहे, अपनी लाचार स्थिति से दुखी जरूर थे। सुखी बनने के लिए काट-छांट वह कर नहीं सकते थे, इस सेंस में कि थोड़े में निभाकर जिया जाए। वह विराट के कलाकार इस क्षुद्र धन्धे में कैसे सिमटते ! वह महान् सृजन में व्यस्त थे। हां, जिम्मेदारी न निभाने की बात ठीक हो है। वह मुक्त-हस्त थे, मगर आर्थिक दुर्दशा का यह प्रमुख कारण नहीं था। उनके परिवार

के साथ मेरा घर-जैसा सम्बन्ध था—मेरे बच्चे उनके, उनके बच्चे में अपनी दशा-दुर्दशा बताने की जरूरत किसे थी, किसी से कुछ छिपा न था, सब जगह एक-सा ही हाल था।

उनके लिए 'सामन्तीय' शब्द का प्रयोग आप क्यों करते हैं? सि इतना ही था, कि वह आदर-तवज्जो में, मित्रों में सामर्थ्य से कुछ अधि खर्च कर डालते थे। मैंने कहा न, वह मुक्त-हस्त थे। वैसे भी वे दुनियावी अन्दाज से प्रेक्टिकल कभी नहीं रहे।

शोषितों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति ही उनकी स्थिति में सम्भ थी। वह कोई राजनीतिक या सामाजिक कार्यकर्त्ता तो थे नहीं कि मैदा में निकल पड़ते। और कर्मपक्ष कहां दुर्बल हुआ। बल्कि वह सकर्म रहे *पक्षधरता की ही वजह थी कि वह शुद्ध साहित्यिक लेखन को छोड़* पत्रकारिता द्वारा विरोधी तत्त्वों का मुकाबला करते रहे। इस प्रका उनकी मूल शक्ति का अपव्यय हुआ। स्वतन्त्र रहकर शान्तिपूर्वक लिखते *तो उनकी प्रतिभा को और प्रखर होने का अवसर मिलता।*

शंकालु प्रकृति? मैं नहीं कह सकता। डाउट उन्हें करना पड़ता था, कारण थे। उन्हें फसाने के कुचक्र बहुत हुए हैं। नौकरी के प्रसंग में मैं काफी बातें बता चुका हूं। उनके विश्वासपात्र कम ही थे, उनसे चिढ़ने वालों और द्वेष रखने वालों की संख्या बहुत ज्यादा थी।

१३-६-१९७० : कल भी आपसे कहा था, कि प्रश्न पूछेंगे तो सब-कुछ बता सकूंगा। सिलसिलेवार बताने की योग्य-स्थिति में मैं कदाचित् नहीं हूं।

हमारी विचारधारा, जिसके निर्माण में मुक्तिबोध का ही सहयोग रहा, के विरोध की अपनी महती *उपलब्धि रही है। नयी पीढ़ी के लेखकों* का सम्यक् दिशा में विकास और नये कवियों-लेखकों की उद्भावना का अनुकूल वातावरण प्रस्तुत हुआ, *जिसके अभाव में वे प्रतिगामी प्रभाव में* *आ सकते थे।* 'नया खून' और 'सारथी' के माध्यम से हमने मजदूरों का समर्थन किया, जनता की *समस्याओं का यथातथ्य विश्लेषण* किया।

'शान्ति-समिति' से हम अप्रत्यक्षतः सम्बन्धित रहे थे। हिन्दी के समुचित प्रचार-प्रसार की तब आवश्यकता थी, जिसमें हमने यथोचित सहयोग दिया।

मुक्तिबोध के सम्बन्ध में मेरे लेख अपने ही पत्र 'नवभारत' में प्रकाशित हुए थे—१९६४ में। उनके लिए फाइल निकलवाकर देखनी पड़ेगी। 'पत्रकार रूप में मुक्तिबोध' विषय पर, मेरे विचार से, अभी तक किसी ने कुछ लिखा नहीं है। यह बहुत अच्छा विषय है। निश्चित रूप से मुक्तिबोध कवि ही थे, किन्तु उनमें पत्रकार की अद्भुत प्रतिभा भी थी, अभिरुचि चाहे उस ओर न रही हो। इससे यह भी सिद्ध होता है कि एक कवि-साहित्यकार अच्छा पत्रकार भी हो सकता है। मुक्तिबोध ने पत्रकार रूप में पहले 'हंस' में काम किया, 'जयहिन्द' में काम किया। कम्युनिस्ट पत्र 'जनयुद्ध' (साप्ताहिक) से भी वह सम्बन्धित रहे थे। 'समता' तो उनकी ही योजना थी। 'सारथी' में वह बराबर लिखते रहे, 'नया खून' को गति प्रदान करने का श्रेय उन्हीं को जाता है। यह भी स्पष्ट कर देना यहां आवश्यक है कि अतिरिक्त आय के लिए ही वह पत्रों में सामयिक लेख आदि लिखते थे, अन्यथा यह उनकी असली दुनिया नहीं थी। मेरे खयाल से इसमें उनकी काफी शक्ति जाया हुई।

'नया खून' का दफ्तर कई स्थानों पर रहा—जुम्मा टैंक, धनवटे चैम्बर्स आदि। यह सनसनीखेज पत्र नहीं था, अलबत्ता इसमें प्रकाशित बेदाग तथ्य लोगों को अप्रत्याशित लगते थे, वैसी बातें लिखने का अन्य पत्रों में साहस नहीं था। बहुत-से छिपे घातक तत्त्व अपने-आपको 'नया खून' में नंगा हुआ पाकर आतंकित हो उठते थे। मुक्तिबोध उक्त पत्र में राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी विषयों पर विश्लेषणात्मक पद्धति से लिखते थे। कविताओं को छोड़कर, चूंकि वह सरकारी नौकर थे, अपने लेख आदि पर वह अपना नाम नहीं देते थे—अग्निमित्र मालवीय, सारथी, कलमनवीस, काव्य-प्रेमी आदि छद्म नामों से लिखते थे। सभी को मालूम था कि 'नया खून' की यह

सारी करामात उन्हीं की है। मैं स्मृति के आधार पर और शैली पहचानकर उनके आर्टिकलों को पहचान सकता हूं। आप फिर कभी आइए, सारी फाइलें दिखाऊंगा। तब आप यह भी समझ सकेंगे कि मुक्तिबोध कितना अच्छा 'डिस्पैच' करना जानते थे।

आप यहां कलाकार भाऊ समर्थ से भी अवश्य मिलें। उनसे कई ज्ञातव्य बातें आपको उपलब्ध हो सकेंगी।

१३ : जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही'

सूचना तथा प्रकाशन विभाग, भोपाल: २-७-१९७० : बिना किसी लागलपेट के अपनी बात को दो-टूक बनाकर कह देना मेरी पुरानी आदत है। इसलिए मैं बदनाम भी रहा हूं। मुक्तिबोध के जीवन और व्यक्तित्व को जो लोग अपनी कल्पित दृष्टि के झरोखों से देखकर अंकित करने का प्रयास करते है, उनसे मैं बहुत बुरी तरह चिढ़ता हूं। जिन्होंने मुक्तिबोध के साथ अपना जीवन जिया-भोगा है या जो एक लम्बी अवधि तक उनके घनिष्ठ संगी-साथी रहे हैं और अभी जिन्दा हैं, उन सबसे व्यक्तिगत सपर्क स्थापित किए बिना, उन्हे अपना साक्षी बनाए बिना, कुछ भी लिखने-कहने का किसी को कोई हक नहीं है। मुक्तिबोध के लेखन को धूल समझिए या तारा, आप स्वतन्त्र हैं, किन्तु उनके जीवन और व्यक्तित्व पर कल्पित तथ्यों का रंग मत चढ़ाइए। यह सौभाग्य की बात है कि आप इधर आए हैं और मुझसे मिलने की चाह आपके मन मे है। आप निस्संकोच मुझसे जो जी में आए पूछें, जब जहां चाहें मिलें। इसमे मदद-वदद का सवाल नहीं है, यह क्या कम संतोष की बात है कि आप इस तरह की खोज के पीछे भटकते फिर रहे हैं। हिन्दीवालों में जिज्ञासा का ऐसा भाव देखकर मन को सुख मिलता है।

ठीक है, मैं आपकी योजना के अनुसार सिलसिलेवार याद करते हुए चलता हूं, कहीं कोई अस्पष्टता आपको नज़र आए तो टोक देना। मुक्तिबोध का जबलपुरीय जीवन हमारे समक्ष 'अज्ञातवास'-जैसा रहा है।

अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में वह प्रायः मितभाषी थे। आप इसी से अंदाजा लगा सकते हैं कि मेरे-जैसा व्यक्ति, जो उनका निजी बनकर इतने अर्से तक निकटस्थ रहा था, इस विषय में विस्तार के साथ बताने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है। जैन हाई स्कूल में मास्टरी, 'कर्मवीर' में कुछ काल तक लिखने, '[illegible]' के प्रकाशन आदि आरम्भिक ज्ञात तथ्यों के अतिरिक्त इतना ही मुझे मालूम हो सका कि बनारस से जबलपुर आकर रहने के पीछे उनका कम्युनिस्ट कार्यकर्ता गुप्त रूप में सक्रिय रहा था। जबलपुर से 'न्यू एज' के वितरण के माध्यम मुक्तिबोध ही थे। पार्टी की सदस्यता उन्होंने नागपुर आकर छोड़ी थी। कष्ट सहकर ही वह नागपुर आए थे। एक ओर उनकी गतिविधियों पर सरकारी जासूसों का दबाव रहा होगा, दूसरी ओर वहां के प्रतिष्ठितों—रामेश्वरप्रसाद गुरु, भवानी तिवारी, अंचल आदि—ने उन्हें कहीं भी जमने नहीं दिया। मुक्तिबोध 'तारसप्तक' के कवि थे और वे सब···इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण जरूरी नहीं है, आपको उस सारे इतिहास की जानकारी होगी।

नागपुर में पब्लिसिटी डिपार्टमेंट के पत्रकार पद के लिए जो परीक्षा ली गयी थी, उसमें हम दोनों साथ ही बैठे थे। उसी अवसर पर हम पहली बार मिले थे। वहां अनायास ही, बातचीत करते-करते, हम एक-दूसरे के निकट आ गए थे। मुक्तिबोध में आदमी को पहचानने की बड़ी भारी काबलियत थी। नागपुर आकर मुझे चिन्ता हुई कि मुक्तिबोध क्यों नहीं आए, जबकि निर्वाचन के उपरान्त निश्चित तिथि को उन्होंने आने के लिए मुझसे कह दिया था। जबलपुर जाकर उन्हें बुला लाने की मैंने योजना बना ली थी। खैर, अगले दिन वह स्वयं ही आ गए और इस प्रकार हमारा एक ही विभाग में काम करने का चक्र शुरू हुआ।

नागपुर में नयी शुक्रवारी में हम साथ-साथ रहते थे। वहीं धीरे-धीरे समान विचारधारा के व्यक्तियों की मित्रता का एक छोटा-सा मंडल बन गया था। मेरे जबलपुर के परिचित श्री रामकृष्ण श्रीवास्तव (स्व०)

'नवभारत' में सहसंपादक थे। वहां उनके सहयोगी थे श्री शैलेन्द्रकुमारजी, नयी शुक्रवारी के ही अड़ोसी-पड़ोसी। तभी 'नया खून' के 'सब-कुछ' स्वामी कृष्णानन्दजी सोख्ता इस घनिष्ठ मित्रमंडल में जैसे आप-ही-आप आकर मिल गए। यहां मैं एक बात और कहना चाहता हूं। मुक्तिबोध से मिलने-घुलने में बाधक मुझमें तब कुछ 'कॉम्प्लेक्सिस' थे, कुछ 'फ्यूडल' किस्म के संस्कारों से मैं ग्रस्त था। मुक्तिबोध की संगति का ऐसा द्रुत प्रभाव मुझ पर हुआ कि एक नये ही प्रकाश का मुझे आभास होने लगा। मेरे दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का श्रेय मुक्तिबोध को ही है। आज सोचता हू तो आश्चर्य होता है कि कैसे वह पुराना-धुराना इतनी जल्दी बह गया था और मैंने बिलकुल नये ढंग से जिन्दगी को समझने की कोशिश शुरू कर दी थी। मुझे प्रगतिशील दृष्टि प्रदान करने के लिए उन्होंने न केवल घंटों खर्च किए बल्कि अध्ययन के लिए वैसा साहित्य भी दिया। इस प्रकार अपने बराबर लाकर उन्होंने मुझे अपना आत्मीय बना लिया था।

नागपुर में मुक्तिबोध आतंकित स्थिति में आए थे। यह आतंक बाद में भी बना रहा, जिसके कई कारण थे, यद्यपि धीरे-धीरे आत्मबल भी उन्होंने प्राप्त कर लिया था। उन दिनों का नागपुर मुक्तिबोध-जैसी विचारधारा के व्यक्तियों के लिए बिलकुल ही गयी-गुजरी जगह थी। चारों ओर विरोध और ढोंग का विपरीत वातावरण था और वहां अपनी जगह बना लेना आसान काम नहीं था। 'नया खून' ही हमें एक ऐसा सहारा दिखाई पड़ा, जिसे उपकरण बनाया जा सकता था। 'नया खून' के मालिक सोख्ता जी घोर व्यक्तिवादी और कांग्रेसी थे, यद्यपि मुक्तिबोध को उनमें संभावना के चिह्न दिखाई पड़ गए थे। लिहाजा हम सब सोख्ताजी से मिले। उनके समक्ष वस्तुस्थिति और कर्तव्यकर्म का हवाला पेश किया। सहमत होकर उन्होंने 'नया खून' हमें सौंप दिया।

मुक्तिबोध ने 'नया खून' का कुशलतापूर्वक संपादन किया और तत्कालीन नागपुरी विचारधारा को नया मोड़ देने में उन्हें अद्भुत सफलता

प्राप्त हुई। स्मरण रखिए, ये संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन के दिन थे और नागपुर इसका प्रमुख केन्द्र था। यहां उन्हें अपेक्षित सहयोग मिला। अपेक्षित सहयोग के अभाव में शायद मुक्तिबोध वह मुक्तिबोध न बन पाते, जिसका आज गुणगान किया जा रहा है, कुछ तो उनकी कीर्ति का बेसुरा आलाप ही कर रहे हैं। मुक्तिबोध के कृति-व्यक्तित्व के निर्माण में, मैं समझता हूं, उनके नागपुरी जीवन का महत्त्वपूर्ण योग रहा है, यद्यपि उनका शुद्ध साहित्यिक लेखन बहुत दिनों बाद लक्षित किया गया। हम उन क्षणों के साक्षी हैं, जब वह अपनी श्रेष्ठ कविताओं को स्वयं शंकित निगाहों से देखा करते थे। प्रशंसित होकर भी यह कहे बिना न रहते थे, 'नहीं पार्टनर, अभी बात बनी नहीं!'

सूचना तथा प्रकाशन विभाग की नौकरी के सम्बन्ध में भी आप जानना चाहेंगे। वहां हम दोनों पत्रकार के रूप में काम करते थे। इस विभाग के रंग-ढंग अपने ही किस्म के होते हैं। सरकारी नौकरी की सारी लानतें वहां काम करने वालों को भुगतनी पड़ती हैं। वहां के अफसरों का राज्य सरकार के साथ सीधा सम्पर्क बना रहता है। उनके अधीनस्थ कर्मचारी की अक्लमंदी और सुरक्षा इसी में समझी जाती है कि वह दुम दबाकर, हां में हां मिलाकर, 'जी-हुजूरी' के फार्मूले को चरितार्थ करता चले। वैसी मातहती का पाठ हमने नहीं पढ़ा था, इसलिए हमारी गतिविधियों पर कड़ी नजर रखी जाती थी। मुक्तिबोध की स्थिति निश्चित रूप से विचित्र थी। एक ओर उनके पीछे विगत जीवन का इतिहास जुड़ा था, दूसरी ओर सरकारी नीतियों के विरुद्ध उनकी छद्म नामधारी विस्फोटक कलम की करामात से सभी परिचित थे। परिणामतः वह भीतर ही भीतर खतरनाक करार दे दिए गए। उनकी अपनी मजबूरियां थीं—कथित अनुशासन का बंधन उन्हें स्वीकार नहीं था, नौकरी छोड़ने की स्थिति में वह थे नहीं, और सत्य का पक्ष लेना उनकी विवशता थी। मुक्तिबोध फूंक-फूंककर कदम रखते थे और अतिरिक्त सावधानी बरतते थे कि कहीं कोई आरोपित अनुशासनात्मक

कार्यवाही का सिलसिला शुरू न हो जाए, चूंकि बिना वजह उनके रिकॉर्ड को खराब करने की हरकतें होती रहती थीं। बावजूद इस सबके उन्होंने शासकीय नौकरी में अपने को एडजस्ट किया, स्वयं मैं उस तरह एडजस्ट नहीं कर सकता था। डी० आई० जी० के प्रलोभन की घटना इस बात का सीधा संकेत थी कि उनके पीछे पुलिस परेशान है, हालांकि ठोस प्रमाण के अभाव में स्वाधीन समझे जाने वाले राष्ट्र के उस नागरिक के विरुद्ध कोई प्रत्यक्ष कार्यवाही उस ओर से संभव नहीं थी। मुक्तिबोध असुरक्षा के भाव से ग्रस्त रहते थे। उन्हें लगता था कि कोई षड्यन्त्र उन्हें फंसाने के लिए निरंतर सक्रिय है। वह इस कदर आशंकित रहते थे कि अपने पास मिलने आनेवालों से वह हमारे माध्यम से ही संपर्क स्थापित करते थे। उन्हें डर था कि कहीं मेरी वजह से उन्हें (मिलने वालों को) किसी परेशानी का सामना न करना पड़ जाए। आप इस बात को ध्यान में रखें कि मैं मुक्तिबोध के संदर्भ में ही यह सब बता रहा हूं। खुद मैंने परिस्थितियों का सामना किस प्रकार किया, यह बिलकुल दूसरा विषय है। यहां केवल इतना ही महत्त्वपूर्ण है कि वह मुझे अपना विश्वासपात्र मानते थे।

मुक्तिबोध सूचना तथा प्रकाशन विभाग की नौकरी छोड़ने की बात बराबर सोचते रहे थे। अक्तूबर, १९५४ में आकाशवाणी में जगह मिल जाने पर ही उन्हें वह अवसर प्राप्त हुआ। जगह पाने के लिए उनका विभागीय और पुलिस रिकॉर्ड आड़े आया था और माचवेजी को सिफारिश लड़ानी पड़ी थी। उस नौकरी का पूरा किस्सा आप अनिलकुमारजी से सुनें। वहां वह मुक्तिबोध के साथ ही काम करते थे। आर्थिक दृष्टि से रेडियो की नौकरी अपेक्षाकृत बेहतर थी, ट्रांसफर के चक्कर में वह भी चली गयी। मुक्तिबोध के भोपाल न जाने के पीछे, मैं समझता हूं, तीन मुख्य कारण थे : १. नयी जगह जाकर नया घर बसाने की आर्थिक क्षमता उनमें नहीं थी। नागपुर में, जैसी भी स्थिति में वह थे, आखिर एक जमा-जमाया संगठन तो था ही। २. अपने ऑफिस रिकॉर्ड को देखते हुए उन्हें

भय था कि कदाचित् उनका भरवासी अनुरूप वहाँ कायम न रह सकेगा। ...वैसे भी, अपने पुराने परिचितों के बीच, जो वहाँ ऊँचे पद पर थे, जाना उन्हें रुचिकर नहीं लगता था। वे. 'नया खून' के स्वामी कृष्णानन्द सोख्ता ने उन्हें अपने यहाँ स्थायी जगह देने का आश्वासन दे दिया था। इस प्रकार सोच-विचार करने के बाद ही उन्होंने ऐन मौके पर जाने से इनकार किया था, यद्यपि रात को उनके जाने की सब तैयारियाँ हो चुकी थीं। इन परिस्थितियों में मुक्तिबोध ने 'नया खून' के सम्पादन का काम अपने हाथ में लिया, परोक्ष रूप से तो यह पत्र उन्हें पहले से ही प्राप्त था। मैं, शान्ता भाभी और शरच्चन्द्र मुक्तिबोध, उनके प्रत्यक्ष रूप में 'नया खून' में जाने के पक्ष में नहीं थे।

सन् १९५६ के समाप्त होते न होते मुक्तिबोध, श्रीवास्तव और *विद्रोही का तिगड्डा हमेशा के लिए बिखर गया।* दिसम्बर में मुझे भोपाल के लिए बिस्तरा बाँधना पड़ा, श्रीवास्तव पहले ही प्राध्यापक होकर अकोला चले गए थे। अब रह गए मुक्तिबोध और उनके संरक्षक सोख्ता जी। सोख्ताजी यूं दिल के बहुत अच्छे थे, किन्तु अर्थ के मामले में उन्हें 'बाबा' कहना ही अधिक सार्थक होगा। मुक्तिबोध को नियमित रूप से पैसे की *ज़रूरत रहती थी, जिसका निर्वाह सोख्ताजी न कर पाए होंगे।* मुक्तिबोध के 'नया खून' छोड़ने के पीछे मैं इसी कारण का अनुमान लगा सकता हूं। मुक्तिबोध ने उन दिनों अपने पत्रों में मुझे इस खटपट की कोई हवा नहीं दी। वैसे भी अपनी व्यक्तिगत परेशानियों का जिक्र करने की आदत उनमें नहीं थी; वैसी स्थिति में पड़ना वह गवारा नहीं करते थे।

मुक्तिबोध का पत्रकार-व्यक्तित्व निश्चित रूप से विवेचनीय है। उनके जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा पत्रकारिता को समर्पित रहा। नागपुर में अधिकतर व्यक्तियों ने उन्हें दिशा-निर्देशक के रूप में ही जाना-पहचाना है, यद्यपि वह मुख्यतः कलाकार ही थे, किन्तु अपने इस मूल स्वरूप में वह प्रायः अलक्षित ही रहे। यह आकस्मिक नहीं है कि बहुत-से महानुभाव, जो

उनकी सलाहों का सहारा लेकर तैरना सीखे थे, आज उस पार जा पहुंचे हैं। मुक्तिबोध की प्रेरणा का ही यह परिणाम था कि उनके छोटे भाई शरच्चंद्र मुक्तिबोध ने बहुत पहले ही मराठी साहित्य के इतिहास में प्रगतिशील कवि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। और यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि स्वयं मुक्तिबोध ख्याति-प्रसिद्धि की तत्कालीन पंक्तियों में कहीं नज़र नहीं आए। यह सही है कि उनकी दुर्बोध समझी जानेवाली लम्बी कविताएं प्रचलित पत्र-पत्रिकाओं में जगह नहीं पाती थीं, किन्तु आत्म-प्रचार के प्रति अत्यधिक सलज्ज भाव ही मुझे उनके उस क्षेत्र में प्रवृत्त न होने का प्रमुख कारण प्रतीत होता है। उस समय सामयिक पत्र-पत्रिकाओं से मुक्तिबोध तथा उनके मित्रों को रचना भेजने के आमंत्रण प्रायः आते रहते थे, पर मुक्तिबोध मित्रों के पीछे पड़कर उनकी रचनाएं तो भिजवा देते थे, स्वयं अपनी रचनाएं कभी नहीं भेजते थे—'निकष' हो या अन्य पत्रिका, उन्होंने कभी किसी को रचना नहीं भेजी। हम आग्रह करते रहते थे, मगर वह अपनी मानसिक ज़िद् से टस से मस न होते। हम लड़ते तक पड़ते थे कि 'महापुरुष, यह क्या माजरा है', परन्तु नहीं, उनकी वही कि 'पार्टनर, बात कुछ बनी नहीं!' हमें ताज्जुब होता था, जब उनमें अपने संदेश को जन-जन तक पहुंचाने की ललक देखते थे। एक ओर आत्मप्रसार की यह ललक और दूसरी ओर आत्मप्रचार-गत संकोच का वैसा भाव, यह मुक्तिबोध के व्यक्तित्व में अन्तर्विरोध की ओर संकेत करते हैं। उनके काव्य की प्रगतिशील प्रवृत्ति (नारेबाज़ी नहीं) जहां कहीं आकुंचित हुई है, वहां व्यक्तित्व की आत्मपरकता का ही दखल है, अन्यथा भी उनकी कविता के प्रतीक और बिम्ब व्यक्तिगत जीवन के अन्तर्विरोधों का झीना झीना आभास देते हैं। हमने मुक्तिबोध की कविताओं को रचना-प्रक्रिया के दौर से गुज़रते हुए देखा है, एक ही कविता के विभिन्न प्रारूपों को सुना है, यद्यपि मैं आज भी अपने आपको उनकी कविताओं का प्रशंसक ही मानता हूं। आलोचक होने का दम्भ मुझमें बिलकुल नहीं है। उनकी आलोचना का काम उतना आसान है भी नहीं।

अपनी निरीह मनस्थिति के ईमानदार कवि-कलाकार मुक्तिबोध के अनुभव का स्वरूप विलक्षण था। हम उन्हें अद्यतन ज्ञान-विज्ञान का ऑलराउण्ड मानते थे। धाराप्रवाह शैली में वह घंटों बोल सकते थे। हमारी दैनन्दिन मित्र-गोष्ठियों में उनका प्रबल चिंतन, ओवरफ्लो डिस्कशन के माध्यम से अभिव्यक्ति पाता था। अर्ज टू इफ्लुएंस के बावजूद उनका चिन्तक किसी प्रकार की जड़ता से ग्रस्त नहीं था, यद्यपि व्यर्थ की टांग अड़ानेवालों से वह किनारा कर लेते थे। यों भी ऐरे-गैरे नत्थू खैरे को मुंह लगाना उन्हें पसन्द नहीं था। यानी आपको यह साबित करना पड़ता था कि आप उनकी बातचीत में हिस्सा लेने के काबिल हैं। यह उनका स्वभाव था, अभिनय या अहं नहीं। वैसे सामान्यतः किसी का दिल दुखाना वह बर्दाश्त नहीं करते थे। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर ही हम उन्हें 'महागुरु' कहकर पुकारने लगे थे। मालूम नहीं मित्रों ने बनारसी शब्द 'गुरु' का सम्बोधन मुझे क्यों दे दिया था, मगर जब मैंने मुक्तिबोध के दर्जे का सवाल करते हुए उन्हें 'महामानव' कहकर सम्बोधित करने का प्रयास किया तो उन्होंने उसका बहुत विरोध किया। फिर अनजाने ही हम उन्हें 'महागुरु' कहने लगे। आज आपके सामने मैं उन्हें मुक्तिबोध कह रहा हूं, वरना अपने पुराने मित्रों के साथ, बातचीत में भी और पत्र-व्यवहार में भी हम उन्हें 'महागुरु' के नाम से ही याद करते हैं।

अब मैं मुक्तिबोध के पारिवारिक जीवन के सन्दर्भ में कुछ विचित्र बातें आपको बताता हूं: यह आपने सुन ही लिया होगा कि नागपुर में उन्होंने आर्थिक विपन्नता को उसके असली स्वाद में भोगा था। मैं पहले ही कह चुका हूं कि अपने निकटतम साथियों के समक्ष भी वह अपने सुख दुख का जिक्र अक्सर नहीं करते थे। शुरू-शुरू में हमें इतना ही पता था कि उन्हें अपने माता-पिता के ऊपर, चाहे वे साथ रहें या न रहें, कुछ खर्च नियमित रूप से करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उनके घर पर बराबर होने वाली बीमारी और मेहमाननवाजी का कुछ ज्यादा बजन है, किन्तु जिस भयंकर स्थिति

का रहस्य हमने बाद में जाना उसका अदाजा भी तब हम नही लगा सकते थे। पता चलने पर मैंने कहा, 'महागुरु, वैसे तो आप अर्थशास्त्र के पडित हैं, मगर व्यवहार मे एक मामूली आदमी से भी गए-गुजरे हो?' वह टालने लगे—नहीं-नहीं, ऐसा कुछ नही है। दरअसल मैं अपने माता-पिता को अपने साथ रखना चाहता हूं। चाहता हू कि उन्हे किसी प्रकार की कोई तकलीफ न हो। माता-पिता को साथ रखने का लालच, निरन्तर उनके लिए पैसे भेजने की ललक और मेहमानो की आवभगत मे उनकी सीमित आय पूरी नही पड़ती थी, इसलिए कर्ज लेने की नौबत आयी और कर्ज भी ऐसे गवार लोगों से वह लेते थे, जो एक के चार वसूल करते थे, घर पर धरना दिए रहते थे। मालूम हो जाने पर हमने उस शोषण से छुटकारा दिलाने की सोची। सोब्तीजी जैसे व्यक्तियों का साथ हमे प्राप्त था और हम उन गवार मनीलैंडर्स को सीधा कर सकते थे, मगर यहा मुक्तिबोध खुद कन्नी काट जाते, उनका पक्ष लेते और उन्हे पनाह देते! यू एक अजीब सीधेपन मे वह अपनी दुर्गति कराते रहे। इस मानी मे वह दुनियादार नही थे, बिलकुल नहीं थे। ऐसी व्यावहारिक बातो का निदान वह सोच ही नही सकते थे। शाता भाभी भी उतनी कुशल नहीं थी। घर के भीतर वह मुक्तिबोध की आख के इशारे पर नाचती थी और बाहर कुछ भी करने-कहने की उनमे हिम्मत नही थी। डरते-डरते हमारे घर पर वह कुछ बता दिया करती थी। पत्नी ने उन्हे बहुत बार समझाया भी पर वह बेचारी कुछ भी न कर सकी। हम मित्रो की स्थिति भी कोई खास नही थी, फिर भी वैसा उजाड़ नहीं था, और दस-बीस का हिसाब-किताब हमने आपस मे कभी रखा नहीं, मगर यहा तो हजारो का जोड़-तोड़ करना था। स्थिति सुधारने का हमारा सुझाया निदान वह करना नही चाहते थे और येनकेन प्रकारेन उन्हे पैसा चाहिए था। हमे बिना बताए ही वह इधर-उधर से कर्ज ले आते, जहां जितने पर हस्ताक्षर कर आते। हमे दुख होता था, विचित्र भी लगता था, मगर वह थे कि अपनी उसी स्थिति मे मजे से जिए जा रहे थे! शायद आपको भी मुक्तिबोध के सम्बन्ध मे ऐसी बातें

विश्वसनीय न लग रही होंगी। संसार के अत्याचार के विषय में जहाँ वह अत्यधिक संवेदनशील थे, वहीं अपने साथ हो रहे अनर्थ के प्रति इस कदर उदासीन थे कि आश्चर्य !

मुक्तिबोध अपनी सम्मतियों के प्रति अत्यधिक सजग थे। जैसे वह स्वयं को अनावश्यक प्रशंसा से प्रभावित नहीं होते थे, वैसे ही दूसरों की रचनाओं पर वाहवाही करने की उनकी आदत नहीं थी। इस मामले में वह बहुत ही कंजूस तबीयत के थे। जब मेरी 'चरवाहा' (कविता) की उन्होंने बड़ाई की तो मैं कुछ आशंकित-सा उन्हें देखने लगा था। पूछा : 'महागुरु, वैसे ही तो नहीं दिल बढ़ा रहे हो ?' वह बोले : 'यह कहने का तुम्हें क्या हक है ? तुम्हारी 'चरवाहा' और तुलसी की 'रामचरितमानस' ये आजकल मुझे विशेष प्रिय हैं। 'चरवाहा' में उन्होंने बार-बार मेरे विवेक की दुहाई दी है। मध्ययुगीन कवियों में तुलसीदास और आधुनिक कवियों में प्रसाद उनके मन में आतंक पैदा करते थे, यद्यपि इन्हीं की आलोचना उन्होंने विशेष मनोयोग से की है, चूँकि कमियों के बावजूद इन कवियों की प्रतिभा को वह मान्यता देते थे।

नागपुर में मैं मुक्तिबोध के साथ था तो वह मुझे अपना अभिन्न मानते थे। बिछुड़ने के बाद मैं उनके लिए कुछ भी न कर सका। वैसी स्थिति में मैं कभी रहा भी नहीं। आलोचना में मेरी गति बिलकुल नहीं थी, इसलिए उनके लेखन के सम्बन्ध में कुछ लिखकर दूसरों को परिचित कराने का काम मेरे लिए सम्भव नहीं था। यहाँ-वहाँ हिन्दी के समीक्षक मिलते थे, तो महागुरु के समर्थन में लड़ाई की नौबत आ जाती थी। एक बार डॉक्टर रामविलास शर्मा को कहा, 'आप प्रगतिशील लेखकों के पक्षधर बनते हैं, किन्तु मुक्तिबोध के सम्बन्ध में मौन हैं।' उनके यह कहने पर कि आप पहले उनकी पुस्तक छपवाने की व्यवस्था करें, मैं भूमिका लिख दूंगा, मैं उबल पड़ा था : 'मुक्तिबोध की पुस्तक की भूमिका लिखने के लिए आप ही रह गए हैं, जिन्हें वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने वालों में गिनते हैं।'

यह जानकर मुझे सन्तोष हुआ था कि राजनांदगांव में वह सुखी हैं। वहां कुछ समृद्ध व्यक्तियों का उन्हें सहयोग भी मिला था, ऐसा बताते हैं। फिर बीमारी का समाचार मिला, और यहां भोपाल में···वह चलाचली का प्रसंग, आप औरों से ज्ञात कर लें, रोना आता है।

१४ : अनिलकुमार

म० प्र० समाज कल्याण विभाग, भोपाल : ४-७-१६७० : कल आप नहीं आए। अब बताइए, बात किस तरह शुरू की जाए। बहुत पहले आपका पत्र मिला था, किन्तु उसमें जो बातें आपने पूछी थीं, उनका उतनी जल्दी उत्तर देना सम्भव नहीं था। वैसे आपका पत्र मेरी मेज के ऊपर रखा हुआ है, उत्तर देने का खयाल बराबर बना रहा है। आपका इधर आना सफल रहेगा; प्रत्यक्ष बैठकर हम विस्तारपूर्वक चर्चा कर सकते हैं। मुक्तिबोध के सम्बन्ध में मेरे कई लेख इधर-उधर प्रकाशित हुए हैं, वे आपने देखे होंगे। उनमें जो तथ्य-सामग्री उपलब्ध है, उसे छोड़कर ही आप प्रस्तुत भेंट का लिखित रूप तैयार करें, जिससे पुनरावृत्ति का अवसर न रहेगा। हां, मैं अपनी ओर से सिलसिलेवार चलता हूं—

मुक्तिबोध को मैं १९४६-५० से जानता हूं, जब वह नागपुर आए-आए थे। तब मैं आकाशवाणी में—जुलाई, १९४८ से—काम करता था। वहां अनेक साहित्यकारों से सम्पर्क रहता था। मैं हिन्दी विभाग में था। प्रोग्राम-इंचार्ज माचवेजी थे। उन दिनों मुक्तिबोध से मेरा व्यक्तिगत परिचय नहीं था। उनके क्रान्तिकारी, प्रगतिशील विद्वान के रूप में ही मेरी जानकारी थी। सामूहिक कार्यक्रमों के अवसर पर और व्यक्तिगत तौर पर भी उन्हें कई बार रेडियो पर बुलाया गया था।

माचवेजी ने 'बारह खम्भा', 'ग्यारह सपनों का देश' आदि की तरह आकाशवाणी के लिए 'षट्कोण' उपन्यास लिखने की योजना बनाई थी।

छह लेखकों में माचवे, अंचल, देवड़े आदि के साथ मुक्तिबोध का नाम भी प्रस्तावित था। इस प्रकार सम्बन्ध-स्थापना के बाद भी मेरे और मुक्तिबोध के परिचय में कदाचित् घनिष्ठता न आ पायी थी। मैं रोमांटिक कविताएं लिखा करता था और वह इस शैली के लेखकों से अपना दूर का ही रिश्ता रखते थे।

सन् १६५५ में मुक्तिबोध अपनी सूचना तथा प्रकाशन विभाग की नौकरी से छुटकारा पाकर आकाशवाणी में आए। आकाशवाणी (नागपुर) में प्रादेशिक समाचार विभाग की स्थापना हुई थी और मुक्तिबोध ने सब-एडीटर-न्यूज पद की परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया था, यद्यपि नियुक्ति के अवसर पर उस शंका-पुरुष के मार्ग में काफी अड़गे आए, माचवेजी को कुछ कोशिश भी करनी पड़ी थी।

नागपुर में पहले मुक्तिबोध, रामकृष्ण श्रीवास्तव (स्व०) और जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही' का एक इंटीमेट ग्रुप था। मेरे बारे में मुक्तिबोध के मन में जो गलतफहमियां थीं, उन्हें दूर करने के लिए 'विद्रोही' जी ने रामकृष्ण से सिफारिश की थी और परिणामत मैं उनकी 'गुड-बुक' में आया। इन्हीं दिनों मेरा एक समीक्षात्मक लेख द्वारिकाप्रसाद मिश्र सपादित 'सारथी' में प्रकाशित हुआ था, जो लोगों की चर्चा का विषय बना। मुक्तिबोध तो इस पत्र में लिखा ही करते थे। बुजुर्ग पीढ़ी द्वारा यह फतवा दिया गया कि मेरा वैसा लेख मुक्तिबोध की कुसगति का परिणाम था। जो भी था, अब मुक्तिबोध मेरे प्रति आश्वस्त हो चले थे, यद्यपि व्यक्तिगत सदर्भ की बातें बहुत बाद में शुरू हुईं।

आकाशवाणी में मुक्तिबोध कभी किसी के भी साथ खुलकर नहीं मिलते थे। एक तटस्थता वह सदैव कायम रखते थे। हम विभिन्न वैचारिक चर्चाओं के अवसर पर उनकी विश्लेषणात्मक बहसों के माध्यम से अनेक मूल्यवान जानकारी प्राप्त कर लेते थे और काव्य-प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में वह हमारा मार्गदर्शन भी करते थे। वह कहा करते थे: 'मेरे ऊपर उलझड़पन का आरोप लोग इसलिए लगाते हैं, चूंकि हमारे भापायी सस्कार

एकदम भिन्न है। वे अपनी कविता के मुक्त छन्द को कवित्त छन्द के आधार पर निर्मित मुक्त छन्द मानते थे। आकाशवाणी में मुक्तिबोध की नौकरी की स्थिति कितनी विचित्र थी, और किन हालात में उन्होंने भोपाल जाना मंजूर नहीं किया था, इसका उल्लेख मैं अन्यत्र कर चुका हूं। वहां अपने पुराने परिचितों के होने की बात उन्होंने मुझसे साफ-साफ कही थी। कुल मिलाकर नागपुर में बने रहना ही उन्हें सम्मानजनक दिखाई पड़ा था। ३१ अक्तूबर, १९५६ को उन्होंने रेडियो छोड़ दिया।

१९५६ के नवम्बर में निकटतम संगी-साथी-विहीन मुक्तिबोध के नागपुरी जीवन में एक 'वैक्यूम' उपस्थित हुआ—'विद्रोही' जी का ट्रांसफर भोपाल हो गया था, रामकृष्ण अकोला चले गए थे। इस अभाव को भरने के लिए वहां मैं था और शैलेन्द्रकुमार। बाद में चित्रकार भाऊ समर्थ भी हमारे साथ मिल गये थे। मार्च, १९५७ में मैंने कतिपय व्यक्तिगत कारणों से आकाशवाणी की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया था। फरवरी, १९५८ में नागपुर छोड़ने तक की अवधि के बीच मैं मुक्तिबोध का घनघोर साथी बना रहा। वे दिन हमारे मुक्त मिलन और एक-दूसरे को समझने-जानने के थे। एक वे भी दिन थे, जब मैं उनसे बातचीत करने के लिए तरसता था और वह इसका अवसर नहीं देते थे, किन्तु अब स्थिति यह थी कि मेरा अधिकतर समय उनके साथ बीतता था। मुक्तिबोध सामान्यतः विशिष्ट व्यक्तियों के साथ ही खुलते थे। यह सम्भव नहीं था कि वह दफ्तर पैदल आ या जा रहे हैं और आपका रास्ता भी वही है, तो चलो बातचीत करने के लिए उनके साथ हो लिया जाए। वह इस कदर रिजर्व रहते थे कि रेलेवेंट बात की और किस्सा खत्म। उसके बाद भी चिपटने का प्रयास जारी रहता था, तो वह यहां तक कह देते थे कि अब आप जा सकते हैं। यानी वह अकेले अपनी धुन में सोचते चलना ज्यादा पसन्द करते थे, बनिस्बत इसके कि आप फिजूल में उनका समय नष्ट करें।

सभा-गोष्ठियों, मित्र-मंडलियों की सामूहिकता में और व्यक्तिगत रूप में मैंने विभिन्न विषयों पर मुक्तिबोध के साथ चर्चाओं में भाग लिया

था। उनके दृष्टिकोण को, उनकी विचारधारा को समझने में मुझे पर्याप्त सफलता मिली, यह कह सकता हूं। संक्षेप में यह ···

···बातों-बातों में कितना समय निकल गया है। कल रविवार है, हमारे घर पर आएं। वहीं, चाहे सारा दिन, हम मुक्तिबोध के साथ ही बिताएंगे !

तात्याटोपे नगर, भोपाल : ५-७-७० आपको बहुत देर प्रतीक्षा करनी पड़ी, मैं देवी की उपासना कर रहा था। मेरा अपना एक आध्यात्मिक संसार भी है, यद्यपि मैं अत्याधुनिक ढंग से रहता हूं और मेरे आचार-व्यवहार में आप कहीं भी अंधविश्वास की झलक न ढूंढ सकेंगे। इस क्षेत्र में मेरी जो भी साधना-सिद्धि है, उसका आधार सम्पूर्णतः वैज्ञानिक है और मैं इस विषय में, यदि आप तैयार हो, बहस कर सकता हूं। जो लोग, दूर बैठे, मुझे या इस सम्बन्ध में मेरी स्थापनाओं को बेमानी समझने की गलती करते हैं, मैं उनकी बिलकुल चिन्ता नहीं करता। मुक्तिबोध की मृत्यु के सम्बन्ध में 'धर्मयुग' में प्रकाशित मेरे लेख को लेकर लोगों ने अपनी प्रतिक्रियाएं तो व्यक्त कीं, किन्तु बात की गहराई में जाने का किसी ने जरा भी प्रयत्न नहीं किया। लोग ऊपरी जीवन ही नहीं बिताते हैं, ऊपरी ढंग से सोचने के आदी भी होते जा रहे हैं। खैर, आपकी जिज्ञासा मुक्तिबोध तक ही केन्द्रित है, इसलिए मैं अधिक विस्तार में उधर नहीं जा रहा हूं। चलिए, उधर दूसरे कमरे में बैठते हैं। वहां पुरानी पुस्तकें और पत्रिकाओं का संग्रह है और मेरे साथ हुए पत्र-व्यवहार का रिकॉर्ड भी, जो शायद आपको अजायबघर लगे।

···यह रमेश मुक्तिबोध का पत्र है। वह लिखते हैं : पिताजी की कोई जन्म-कुंडली नहीं थी। और यह देखिये, यह क्या है ? सम्बन्धित अंश आप नोट कर सकते हैं—

गजानन माधव मुक्तिबोध

जन्म : १३-११-१६१७, रात के दो बजे

स्थान : श्योपुर, जिला मुरैना (ग्वालियर स्टेट)
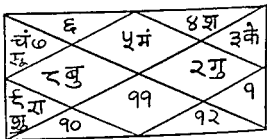
मुक्तिबोध की जन्म-पत्री मूल रूप में नागपुर के प्रसिद्ध ज्योतिषी श्री सीताराम कान्होजी पाटिल (बार टाइपिस्ट, डिस्ट्रिक्ट कोर्ट्स, नागपुर) के पास सुरक्षित है, आप जाकर देख सकते हैं। मुक्तिबोध ने, जब नागपुर में मैं उनका घनघोर साथी था, अपनी वह जन्म-पत्री मेरे माध्यम से पाटिल को दिखाने के लिए दी थी। मुक्तिबोध के पिताजी ज्योतिष में विश्वास रखते थे, इसका जिक्र उन्होंने स्वयं मेरे सामने किया था।...ये बनारस के तांत्रिक और माचवेजी के पत्र हैं, जिनका हवाला मैंने अपने लेख मे दिया है। डाकखाने की मोहर आप ध्यान से देख लें। मैं कहता हूं, मेरे लेख का प्रत्येक शब्द वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित है, मगर लोग हैं कि बातें बनाने से बाज नहीं आते। मुक्तिबोध यह जानते थे कि मेरी इस ओर अभिरुचि है किन्तु जैसाकि उनका स्वभाव था, वह राजनैतिक विश्वासों की आलोचना करते थे, व्यक्तिगत मामलों में दखल कतई नहीं देते थे। मैं नहीं कह सकता कि वह भूत-प्रेत या तन्त्र-मन्त्र में विश्वास रखते थे या नहीं, मुझे कभी इस ओर जाने से उन्होंने नहीं टोका, उलटे उनका कहना था कि अपने उस क्षेत्र के अनुभव-अध्ययन का उपयोग मैं अपने काव्य को समृद्ध बनाने में करूं। मैंने अपनी 'गारुड़ मंत्र' कविता तंत्रात्मक आधार पर ही लिखी थी।

यह सारा रिकॉर्ड आपके सामने है, अपने उपयोग की सामग्री छांटकर लिख लें, तब तक मैं पुरानी पत्रिकाएं उपलब्ध किए देता हूं। नहीं-नहीं,

आपके लिए नहीं, यह सब महागुरु के लिए है। आप अन्दाज़ा नहीं लग सकते, जब से आप यहां आए है, मुझे लग रहा है, जैसे मेरा प्रत्येक क्ष मुक्तिबोध के साथ बीत रहा है !

नागपुर मैंने फरवरी, १६५८ मे छोड़ा। इन्दौर मे मेरी नियुक्ति क लिए मुक्तिबोध ने, अपने पिताजी की उज्जैन मे बीमारी के सिलसिले मे वहां स्वयं जाकर व्यक्तिगत तौर पर प्रयास किया था। 'सारथी' सम्बन्धित कुछ व्यक्ति वहां थे। इन्दौर जाते समय उन्होने मुझे चेतावन दी थी कि मैं वहां के पूजीपतियों के दबाव मे बिलकुल न आऊ, उनस बचकर रहूं। वैसे मेरे इन्दौर जाने पर वह बहुत आह्लादित थे: 'ओह आप मालवा जा रहे हैं !' वह कहा करते थे : 'मालवा मेरी कमजोरी है। मालवा की याद उन्हें बराबर कचोटती रहती थी। ट्यूशन के सिलसिले में मैं अपने मित्र के यहा एक बार उनके साथ गया था। उनके घर के दरवाज़े और खिड़किया वह बहुत देर तक तरसती निगाहों से देखते रहे थे। बोले 'यहां के हो, मालवा के ? ओह ! दरवाज़ों की ऐसी बनावट उज्जैन इन्दौर मे होती है—मुझे बहुत पसन्द है।' मालवा की हर अदाए उन्हें भावात्मक परितोष देती थी।

'नया खून' के स्वामी कृष्णनन्द सोख्ता—एक विचित्र व्यक्तित्व— मुक्तिबोध के साथ किए अपने वायदे और अनुबन्ध कदाचित ही निभा पाए, यद्यपि उनके पत्र की प्रतिष्ठा का मूल कारण मुक्तिबोध ही थे। जैसी उनसे उम्मीद थी और वह समर्थ भी थे, मुक्तिबोध की वैसी सहायता उन्होंने कभी नहीं की। आर्थिक दृष्टि से मुक्तिबोध की स्थिति शोचनीय थी, किन्तु स्वामीजी का रुख इस मामले में उपेक्षापूर्ण, उदासीनता का रहा। लाचार होकर मुक्तिबोध को 'नया खून' भी छोड़ना पड़ा और कुछ दिन तो उन्हें एकदम बेकारी में गुज़ारने पड़े थे। इसकी सूचना मुझे मिली तो मैंने लगातार कई पत्र उन्हें लिखे, मगर जवाब नदारद। अत में जवाबी खत भेजा तब उत्तर आया : 'दिनांक : २७-५-५८···मैं इन दिनों बेकार हूं, नौकरी छूट गयी है।···एक बात और, कृपया इस बात का कतई उद्घाटन

या प्रचार न करें कि मेरी हालत अच्छी नहीं है—अपने इन्दौर के मित्रों के अथवा बाहर के मित्रों में भी नहीं। कारण, इस हालत को मैं दूसरों तक पहुंचाना नहीं चाहता।' कुछ ऐसे गोपनशील थे महापुरुष!

मुक्तिबोध के छोटे भाई शरच्चन्द्र मुक्तिबोध से आप मिले हैं। शरच्चन्द्र मुक्तिबोध महापुरुष के समक्ष नाटे हैं, रंग मिलता-जुलता ही समझिए। सांवला-सा गहरा रंग, ऊंची काठी, लम्बी नाक···चेहरे पर हड्डियां जरूर उभर आयी थीं, मगर भिन्नगत सभ्यता ही वहां सर्वत्र विद्यमान थी। अपने ठाठ-बाट के सम्बन्ध में क्वेटा की एक घटना उन्होंने हमें सुनाई थी : चार जवान घर पर काम करते थे। मैं छह महीने का रहा हूंगा, सिपाही मुझे सुलाने-झुलाने इधर-उधर हुआ कि एक बंदर ने मुन्ने के पास आकर मेरा झबला पकड़ा और उठाकर झाड़ पर ले गया। यह दृश्य देखकर सिपाही दौड़े। बंदर को खपरैल के छप्पर पर लाया गया। वह मुझे वहीं छोड़कर भाग गया। यह कहानी सुनकर हमने मजाक में कहा : बंदर ने लौटाया है आपको और जमीन या मकान नहीं, छप्पर आपकी असली जगह होगी!

मुक्तिबोध का लालन-पालन चाहे समृद्धि के वातावरण में हुआ था, हमने उनमें विलासिता और ठाट-बाट के प्रति कभी कोई आकर्षण नहीं पाया। भाऊ समर्थ के सामने एक बार उन्होंने यह किस्सा सुनाया था कि जबलपुर में कैसे दिन में ही दोस्तों ने उन्हें पिला दी थी। कवि भवानी तिवारी सामने ही मिले। वह चाहते थे पकड़ में न आएं। मगर···ऐसी कुछ स्मृतियां ही उनके पास थीं, अन्यथा विद्रोहीजी के यहां रोज ही गोला चलता था, हम सब लेते थे, मगर वह बैठे रहते। उनका अपना खर्च बस चाय और बीड़ी तक सीमित था या घर पर जो लोगों की चाय-पानी पर लग जाता हो। आवभगत को आप सामंतीयता कह लें या फिजूलखर्ची, मगर यह थी उनके स्वभाव में घुली-मिली। फालतू खर्च इसमें जरूर हो जाता था। वैसे आर्थिक स्थिति खराब होने के और भी कारण थे। माता-पिता के प्रति उनमें श्रवण-जैसी भक्ति थी। उनकी तीमारदारी के

लिए वह विशिष्ट व्यवस्था का ध्यान रखते थे, चाहे कर्ज की नौबत क्यो न आये। इस सम्बन्ध मे वह अतिरिक्त दायित्व की भावना से ग्रस्त रहते थे, चूकि क्षमता का अभाव था। इस प्रकार वह अपने मन पर दुःख ओढ़ते थे।

मुक्तिबोध व्यवहार मे दूसरो के प्रति अत्यधिक विनम्र थे। दूसरे के विषय मे आगे-पीछे ऐसा-वैसा कहना उन्हे अच्छा नही लगता था। हल्के दर्जे की बात उन्हे एकदम नापसन्द थी। उनका विनोद भी गरिमापूर्ण होता था। वह विचारों की लड़ाई लड़ते थे। झगड़ालू हम थे, वह नही। कभी-कभी हम महागुरु की ओर से लड़ाई ठान लेते, किन्तु वह सदैव स्थितप्रज्ञ सन्तुलित बने रहते। जब हम कम्युनिज्म या क्रांति की बात करते, तो वह यही कह देते : ऐसा मैं कहां हूं ? यों ही मुझे बदनाम किया जाता है। उस तरह का पार्टी-मैन मैं नहीं हूं।

दूसरों का खयाल वह बहुत ज्यादा रखते थे। अपनी कविताए सुनाते-सुनाते जब उन्हे दो-ढाई घटे हो जाते, तो तल्लीनावस्था मे भी पूछ उटते थे : पार्टनर, कहीं बोर तो नही हो रहे हो ? अपनी कविताओ का शीर्षक दे पाना उन्हे कठिन लगता था। नागपुर मे लिखी कविताए उन्होने हमे बिना शीर्षक के ही सुनाई थी। हम उनके सग्रह को प्रकाशित कराने की बात अकसर कहा करते थे। मैं तो यहां तक कह देता था कि आप चुनाव कर लीजिए, बाकी जिम्मेदारी मेरी, चाहे चोरी करके छपवाऊं। मगर उन्हें अफसोस-सा था कि क्यों नहीं कोई स्वय आकर उनसे मागता। 'म्यूजियम मे रखी जाएगी मेरी कविताए', ऐसा कह देते थे। एक शका-सी उनके मन मे घर कर गयी थी। 'निकष' मे कविता भिजवाने के लिए मुझे बहुत प्रयास करना पड़ा था, अन्यथा भेजने की इच्छा उनकी बिलकुल नही थी। एक जिद् भी थी कि यहा भेजेंगे, वहा नहीं भेजेंगे। कवि-सम्मेलनो मे भी वह इसी वजह से अकसर नही जाते थे। विद्रोहीजी लड़ पड़ते कि महागुरु, यह सेठो के कवि-सम्मेलनो मे न जाना अपनी समझ मे नहीं आता, जहां एक ओर अपनी धारा का प्रसार मुफ्त मे हो और दूसरी ओर

देख लिये। वैसे अपनी कविताओं के प्रति उनमें असीम मोह था। इलाहाबाद के साहित्यकार समारोह-१९५७ में मोटे तौर बहुत प्रसन्न थे कि वहां शमशेर, त्रिलोचन आदि ने उनकी कविताएं सुनीं। अपने स्तर के लोगों की प्रशंसा उन्हें अच्छी लगी थी। वाहवाही से वह प्रभावित नहीं होते थे।

आत्मीयता के बाद ही वह अपने किसी घनिष्ठ को कविता सुनाते थे, अन्यथा किसी लोकप्रियता को भी हवा नहीं लगने देते थे। यदि उनकी कविता कहीं पकड़ में न आती तो घंटों चर्चा करते। रचना-प्रक्रिया के लिए उदाहरणार्थ 'अंधेरे में' कविता की पृष्ठभूमि एम्प्रेस मिल गोलीकांड से सम्बन्धित है। वीरेन्द्रकुमार भी तब वहीं थे। मुक्तिबोध से उन्होंने कहा था : महागुरु, कविता लिखोगे ? वह बोले : नहीं, थोड़ा पकने दो। कुछ दिन बाद पता चला, कविता अंडररिपेयर पड़ी है। एक टीन की पेटी थी उनके पास। कहते थे : फर्स्ट राइटिंग में क्या होता है अनिलकुमार, कि जो हम कहना चाहते हैं न, वह पहले झटके में छूट जाता है। रिपेयर के लिए जब उठाते हैं तो रूप ही बदल जाता है। संश्लिष्टता के कारण लम्बाई आ जाती है, गहराई भी। गद्य लिखना उनके बाएं हाथ का खेल था। वहां वह दुबारा काट-छांट नहीं करते थे।

आओ, चलो, अब मैं आपको मुक्तिबोध की कविताओं का पाठ उन्हीं के ढंग से करके सुनाता हूं…कोशिश करता हूं…कुछ-कुछ ऐसे वह अपनी कविता पढ़ते थे। 'अंधेरे में' कविता की व्याख्या भी मैं आपको करके दिखाना चाहता हूं…यानी ऐसे आप मुक्तिबोध की कविताओं को समझने की ओर प्रवृत्त हों।

१५ : भाऊ समर्थ

सीताबर्डी, नागपुर : ७-६-१६७१ : जीवनलाल 'विद्रोही' ने अनिलकुमार से कहा था, भाऊ को मुक्तिबोधजी से मिला देना। उन्होंने बात कर ली है। मुक्तिबोधजी से कोई अपरिचित व्यक्ति मिलने पर आमतौर से यही राय ज़ाहिर करता था कि वे रुखे-से लगते हैं। 'अपने काम की बात करो और शीघ्र फूटो।' साधारण व्यक्ति को ऐसा महसूस होता था, जैसे वे उन्हें कहीं कुछ शंका से देखते-परखते हैं। यही वजह है कि कुछ लोग गलत अंदाजे और गलतफहमी के चक्कर से ग्रस्त होते रहे। वैसे उनके नाम की चर्चा हिन्दी युवा और प्रौढ साहित्यिकों के बीच खूब चलती थी। वे प्रगतिवादी साहित्य के सृजनकार और अधिकारी माने जाते थे। बातूनी साहित्यिक, केवल उलझने की आदत से लाचार युवा और तर्कहीन बात करने वाले व्यक्तियों को उनका हमेशा ही डर बना रहता था। कारण, उनकी प्रौढत्वपूर्ण गम्भीर विचारशैली ! यह भी सुना था कि उनकी धाक से प्रतिक्रियावादी लेखकों का झुंड आतंकित रहता है।

एक बार मुझे किसी ने—याद नहीं आता वे कौन थे—'नया खून' के दफ्तर में मुक्तिबोधजी को रचना पहुचाने का काम दिया। कृष्णानन्द सोख्ता, जो 'नया खून' के मालिक और संपादक थे, को मैं जानता था। कुछ लोग उन्हें बहुत बड़ा 'फ्राड' समझते थे और कुछेक अक्खड़ साहित्यिक और भला आदमी। मेरा अनुभव है कि वे दुनिया-भर के सभी अच्छे और बुरे तत्त्वों का मिला-जुला व्यक्तित्व थे। उनके साथ मुक्तिबोधजी काम कर

साहित्य की बातें उनकी डायरी में लिखी गयी थीं, जो जबलपुर से परसाईजी के संपादन में चलने वाली 'वसुधा' में अनियमित रूप से क्रमशः प्रकाशित हुईं। उनकी एक पुस्तक 'एक साहित्यिक की डायरी' उन्हीं लेखों का संकलन है, ऐसा मेरा विचार है।

उनकी वजह से, उनकी मेहनत से मुझे सम्प्रदायों से हटकर सोचने की आदत पड़ी। उन्होंने मुझे मार्क्सवादी व्यवस्था, संगठन और उसी संदर्भ में साहित्य और विज्ञान की भूमिका समझा दी थी। वे सभी मानों में साम्यवादी थे। गुणापूर्ण वे मार्क्स के ज्ञाता थे। वे स्पष्ट थे, नगर के कम्युनिस्टों से भी। अधकचरे लोग पार्टी के सदस्य बनते जा रहे थे। उन्होंने उनमें केवल पूंजीवादी संस्थाओं की बुराइयों की कुछ झलकें मात्र ताड़ ली थीं। मुझे पढ़ने के लिए समय नहीं था। जिज्ञासा थी जानने की। कम्युनिस्ट मित्रों के बीच ज्यादा से ज्यादा समय बीतता था। मैं सुनता था, पढ़ नहीं सकता था, इसलिए सुनता था। मुक्तिबोधजी ने कई नामों को गिना दिया था—ये लोग कैरियरिस्ट हैं, कम्युनिस्ट नहीं हैं। साहित्य-निर्मिति और पार्टी का उपयोग कर प्रतिष्ठा का माध्यम बनाएंगे। आज वही लोग सचमुच पतित साबित हुए। वे आज भी मौजूद हैं। उनके कई निकटतम मित्र भी उन में शामिल थे। ऐसे भी लोग थे, जो मुंह पर प्रशंसा और पीठ मोड़ते ही उन पर ताने कसते थे। प्रगतिवादी साहित्य के प्रति सहानुभूति रखने वाले उनके ये निकटतम मित्र उनके जीवित रहते हुए उनका उपहास करने में और गुप्त शत्रुता रखने में योग देते रहे थे। मुक्तिबोधजी ठोस कम्युनिस्ट थे, आचार और विचारों से।

एक दिन मैं उनके यहां पहुंचा। सौ० मुक्तिबोध ने, भाभी ने मुझे सत्यनारायण का प्रसाद दिया। मैंने मुक्तिबोधजी की ओर देखा। वे कह गए, 'खाओ, यार! मैदा या रवा और शक्कर है, प्रसाद वगैरह सब झूठा।' हमारी भाभी ने उनके कष्टकर जीवन में खूब साथ दिया। उनके पुराने [illegible] वे हट[illegible] सके थे। और उनकी नाराजी लेकर उनकी वैज्ञानिक [illegible] वे तैयार नहीं कर पाए थे। वे कभी मुझे भी कहते थे, 'मंदिर और

मूर्तियों को हाथ जोड़ना केवल लोगों की नाराजी या उनके आक्रमणकारी छोटे हमलों से बचने के लिए ठीक है। मुझे इसमें आपत्ति नहीं है।' उनकी पूरी राय थी कि भारतीय जनता को अपनी दरिद्रता हटाने के लिए पूँजीवादी व्यवस्था के संस्कार और धर्म-रूढ़ि संस्कारों के दोनों मोर्चों पर संग्राम करना होगा।

एक दिन देखा: मुक्तिबोधजी पाजामा और कुर्ता पहने बहुत ही धीमे-धीमे चल रहे थे। हाथ मे दवा-भरी छोटी बोतल थी। दवा के नाम लाल पानी, चेहरा और काला बना था। हड्डियाँ चेहरे की ज्यादा उभरकर चमक रही थीं। आँखें और धंस गयी थीं। आवाज मे शक्ति-क्षीणता काफी थी। मैं डर गया। जो कुछ भी घर मे खाना बना हो पेट मे उडेलकर रात भर चलती राह पर अपनी संस्था चलाने वाले मुक्तिबोधजी की यह हालत देखकर मैं कांप गया। उनकी उस हालत में भी वे घंटा-भर साथ मे चलाते ले गए। सेहत, घर-गृहस्थी और अर्थ की व्यक्तिगत बातें टालकर वे समाज-परिवर्तन की बातों मे गुथाते चले गए। उनसे विदा लेते ही उनकी लुढ़कती स्थिति दोस्तों में व्यक्त करने का निश्चय मैंने कर लिया था।

उन दिनों मैं राम मंदिर गली मे रहता था। गजानन माधव मुक्तिबोध के बंधु शरच्चंद्र मेरे पड़ोस मे रहते थे। वे भी मराठी के ख्यातनाम और अपनी शैली के एकमात्र कवि-साहित्यिक हैं। वे सरकारी कर्मचारी थे। शरच्चंद्रजी भी वार्तालाप करने या तो मेरे यहाँ आने या मैं उनके पास जाता। मुक्तिबोधजी की स्थिति को उनके पास व्यक्त करने का साहस किया। इतनी बार शरच्चंद्रजी से मिला। हिन्दी कवि अपने मुक्तिबोधजी का व्यक्तिगत जीवन हमारी चर्चा का विषय कभी नहीं बना था। शरच्चंद्रजी अपने ज्येष्ठ बंधु के प्रति आदर-भाव रखते हुए गंभीर बने रहे। बड़े भाई बँने प्रैक्टिकल नहीं थे, इसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर चुके थे। उनकी प्रामाणिकता, सचाई, लगन, ध्येयनिष्ठा, मित्रों से लगाव, घुमक्कड़ स्वभाव और कभी-कभी नतीजे की परवाह न करते हुए अन्याय के विरोध मे लड़ पड़ने की आदत आदि पर बातें होती रहीं। रमेश, उनका लड़का, शरच्चन्द्रजी

राहों पर की बातें उनकी डायरी में लिखी गयी थी, जो जबलपुर से परसाईजी के संपादन में चलने वाली 'वसुधा' मे अनियमित रूप से क्रमशः प्रकाशित हुई। उनकी एक पुस्तक 'एक साहित्यिक की डायरी' उन्ही लेखों का सकलन है, ऐसा मेरा विचार है।

उनकी वजह से, उनकी मेहनत से मुझे संस्कारों से हटकर सोचने की आदत पड़ी। उन्होंने मुझे मार्क्सवादी व्यवस्था, संगठन और उसी सदर्भ में साहित्य और विज्ञान की भूमिका समझा दी थी। वे सभी मानों में साम्यवादी थे। गुरुतापूर्ण वे मार्क्स के ज्ञाता थे। वे रुष्ट थे, नगर के कम्युनिस्टों से भी। अधकचरे लोग पार्टी के सदस्य बनते जा रहे थे। उन्होंने उनमें केवल पूंजीवादी सस्थाओं की बुराइयों की कुछ झलके मात्र ताड़ ली थी। मुझे पढ़ने के लिए समय नही था। जिज्ञासा थी जानने की। कम्युनिस्ट मित्रों के बीच ज्यादा से ज्यादा समय बीतता था। मैं सुनता था, पढ़ नहीं सकता था, इसलिए सुनता था। मुक्तिबोधजी ने कई नामों को गिना दिया था—ये लोग कॅरियरिस्ट हैं, कम्युनिस्ट नहीं हैं। साहित्य-निर्मिति और पार्टी का उपयोग कर प्रतिष्ठा का माध्यम बनाएंगे। आज वही लोग सचमुच पतित साबित हुए। वे आज भी मौजूद हैं। उनके कई निकटतम मित्र भी उन मे शामिल थे। ऐसे भी लोग थे, जो मुंह पर प्रशंसा और पीठ मोड़ते ही उन पर ताने कसते थे। प्रगतिवादी साहित्य के प्रति सहानुभूति रखने वाले उनके ये निकटतम मित्र उनके जीवित रहते हुए उनका उपहास करने में और गुप्त शत्रुता रखने में योग देते रहे थे। मुक्तिबोधजी ठोस कम्युनिस्ट थे, आचार और विचारों से।

एक दिन मैं उनके यहां पहुंचा। मो० मुक्तिबोध ने, भाभी ने मुझे सत्यनारायण का प्रसाद दिया। मैंने मुक्तिबोधजी की ओर देखा। वे कह गए, 'खाओ, यार! मैदा या रवा और शक्कर है, प्रसाद वगैरह सब झूठ।' हमारी भाभी ने उनके कष्टकर जीवन में खूब साथ दिया। उनके पुराने ...र वे हटा नहीं सके थे। और उनकी नाराजी लेकर उनको वैज्ञानिक ...के तैयार नहीं कर पाए थे। वे कभी मुझे भी कहते थे, 'मंदिर और

मूर्तियों को हाथ जोड़ना केवल लोगों की नाराजी या उनके आक्रमणकारी छोटे हमलों से बचने के लिए ठीक है। मुझे इसमें आपत्ति नहीं है।' उनकी पूरी राय थी कि भारतीय जनता को अपनी दरिद्रता हटाने के लिए पूंजीवादी व्यवस्था के संस्कार और धर्म-रूढ़ि संस्कारों के दोनों मोर्चों पर संग्राम करना होगा।

एक दिन देखा: मुक्तिबोधजी पाजामा और कुर्ता पहने बहुत ही धीमे-धीमे चल रहे थे। हाथ में दवा-भरी छोटी बोतल थी। दवा के नाम लाल पानी, चेहरा और काला बना था। हड्डियां चेहरे की ज्यादा उभरकर चमक रही थीं। आंखें और धंस गयी थीं। आवाज में शक्ति-क्षीणता काफी थी। मैं डर गया। जो कुछ भी घर में खाना बना हो पेट में उडेलकर रात भर चलनी राह पर अपनी संस्था चलाने वाले मुक्तिबोधजी की यह हालत देखकर मैं कांप गया। उनकी उस हालत में भी वे घंटा-भर साथ में चलाने ले गए। सेहत, घर-गृहस्थी और अर्थ की व्यक्तिगत बातें टालकर वे समाज-परिवर्तन की बातों में गुंथाते चले गए। उनसे विदा लेते ही उनकी नुकती

के पर भारी भार रहता है। समीक्षाओं में मदद का अस्वीकार करने और विरोधी अवस्था में जीवनयापन करने की चतुराई का अभाव आदि पर चर्चा हुई। ये सब चर्चाएं गुण या दोष के विश्लेषण के लिए नहीं थीं मात्र एक सहजभाव के रूप में मुझे अवगत कराया गया था।

मुक्तिबोधजी घर में, रास्ते में, होटल में या कहीं भी अपनी रचना सुनाते थे। उनके यहां लिखे हुए कागज बिखरे पड़े रहते थे या किसी किताब में दबे पड़े रहते थे। लिखने में वे एक-साथ पूरा लिख डालते थे, और बीच में ही लिंक टूट गया या मूड चला गया तो वे कब पूरा कर सकेंगे, इसका अंदाज लेना कठिन था। बड़े-बड़े अक्षरों में लिखने की उनकी आदत प्रूफ-रीडर की सहूलियत सोचकर बनी थी। भय का उनके मन पर पूरा आतंक था।

अपनी यात्राओं को वे काफी गोपनीय रखते थे। यह भय कैसा था? मानो उनका पीछा सी० आई० डी० कर रही हो या कर्ज देने वाले पठान का भान हो। पीड़ा, फाकाकशी, बीमारी, लड़के की मृत्यु, नौकरी की तलाश —वे टूट-से गए थे। अंधेरे में एकाध चिराग हो, इसी तरह उनके शिकन वाले चेहरे में धसी हुई आंखों की रोशनी एक ठोस भरोसा-विश्वास रखती थी। उनकी कविता में आतंक से सने इमेजेज की भरमार रहती थी। अपनी ध्येयनिष्ठा के खिलाफ स्थिति और व्यक्ति पर बेमुरव्वत धक्का देने का भी कविता में कुछ इमेजेज से काम लिया जाता था। उनकी लम्बी कविताएं उनके साहस और शक्ति को प्रकट करती रहीं। मन की किस स्थिति के बाद यह शब्द कविता में भर जाते हैं, यह सोचने से ही मैं कांप जाता था। नये-नये शब्द, उनसे पैदा होने वाले दृक्-चित्र, कई कल्पनाओं के बिंबों के सघन में व्यक्त लय, आतंक या आक्रमण के किसी या दोनों भाव के धागे में गुथे-से लगते थे। साधारण पाठक के लिए उनकी काव्यकृति गूढ़-सी लगती थी। 'चांद का मुंह टेढ़ा है' में संकलित काफी कविताएं मैं प्रकाशन-पूर्व तथा सृजन के तुरन्त पश्चात् सुन चुका था या पढ़ चुका था। जिन्होंने नजदीक से उनका जीवन देखा है, समझा है, वे ही जान सकते हैं

कि गूढ़ता-प्रौढ़ता को निभाते हुए आया हुआ सहज तथा आवश्यक-सा ही उनकी कविता का अंग बना है।

मैं जानता हू, उन्होंने पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र के साप्ताहिक 'सारथी' में भी कॉलम लिखे हैं। उपनाम और अनाम मे भी। स्कूली किताबें भी लिखी। गणित, विज्ञान और इतिहास की पुस्तको का भाषान्तर भी किया।

रईसो के उपकार से या कर्ज से हमेशा ही बचना चाहिए। एक आर्थिक स्तर के मित्रों से ही मेल-जोल, लेन-देन होना चाहिए। रईसो के उपकारों का मुआवजा हमेशा ही बड़े महगे भाव मे पड़ता है। उन्हे 'दान' शब्द से नफरत थी। 'मूद' से चिढ थी। सत विनोबा बुर्जुआ सोसायटी का एजेंट है, यही उनका धारणा थी। नेहरू के राज मे भारतीय जनता को मुफ्त चाय कभी सम्भव नही। नेहरू का समाजवाद भ्रामक है, ऐसा वे कहते थे। जब हम दोनों की जेबें खाली रहती, चलते-चलते पाव थक जाते, राहत के लिए हम चाय तक नहीं पी सकते थे।

उन दिनो रूस से 'लायका' आकाशयान मे बैठकर मृत हुई थी। साम्यवादी समाज-रचना मे विज्ञान का यश उन्होंने माना। वे हमें विज्ञान की प्रक्रियाएं समझाते रहे। भूखी जनता को बचाने के लिए यही एक व्यवस्था है, ऐसा उनका निश्चित ठोस विचार था। 'आदमी' का बड़ा होना उन्हें पहले मजूर था, बाद में साहित्यिक और कलाकार! साम्यवादी व्यवस्था में कला का क्या स्थान होगा इस पर उनकी-मेरा सप्ताह तक बहस चली। भारतीय व्यवस्था मे धर्म के ठेकेदारो के मजबूता मे चढाए आवरण, शासन पर बुर्जुआ वर्ग की पकड, बुर्जुआ लोगो की सारी विरोधी पार्टियों को अनुदान देने की चाल, साहित्य और कला को अपनी विकृत रजन-प्रवृत्ति की दस्यु बनाने की साजिश, चैन और आराम का जीवन पाने की लालसा मे सच्ची विद्रोही-वृत्ति लेने वाले बुद्धिजीवियो का पतनगत लुढ़कना, ऐसी स्थिति में अपने आपको बचाते हुए जीवन-सग्राम चलाना आदि जानकारी हो उनकी संगत से प्राप्त होती रही। वे अपने लक्ष्य पर चलने के लिए योद्धा का व्यक्तित्व बनाए रखे थे। उनको अपनी इस निष्ठा के लिए अभाव और

बीमारी सहनी पड़ी और अपने एक पुत्र की बलि देनी पड़ी।

उनकी बड़ी इच्छा थी कि जिला स्तर पर देश भर में छोटी-छोटी पत्रिकाओं का निर्माण हो, नये युवा विद्वान अपना सृजन की तेज-प्रामाणिक अभिव्यक्ति कर सकें और सेठियाल पत्र-पत्रिकाओं के संपादक के बुर्जुआ साहित्य-सृजन की दिशा देने के प्रयासों का करारा जवाब दें। भले ही वह पत्रिका अपने एक-दो अंक निकालकर बंद हो जाए। इसमें अपराध की या असफलता की भावना नही रहे, क्योंकि हमारी व्यवस्था में यही होगा और क्या सोच सकते हो? भारत की बढ़ती हुई आबादी और शोषण-दमन वृत्ति इस देश में क्रांति जरूर लाएगी, देर हो सकती है। आने वाले समय के लिए अच्छी सूझ-बूझ के प्रयासी युवकगण अपनी योजना से तैयार रहें, सतर्क रहें, यही उनकी आकांक्षा बात-बात में झलकती थी।

यूं ही एक घटना याद आ रहा है। पुराने मध्य-प्रदेश के मंत्री पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र मुक्तिबोधजी की प्रतिभा और व्यक्तित्व से परिचित और प्रभावित भी थे। उनकी ओर मारिस कॉलेज के विद्यार्थी महाविद्यालीय साहित्य मंडल के उद्घाटन का निमंत्रण देने गए थे। पं० मिश्रजी ने उनसे कहा—क्यों न आप मुक्तिबोधजी को बुलाते हैं? वे प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यिक हैं। मुक्तिबोधजी को भी इस समारोह में उपस्थित रखने का वायदा लेकर कार्यक्रम तय हुआ। समय के अनुसार मिश्रजी आए और मुक्तिबोधजी भी। पं० मिश्र मंच पर और मुक्तिबोधजी विद्यार्थियों के बीच काफी दूर थे। पं० मिश्र ने मंच पर आने के लिए माइक पर से मुक्तिबोधजी को अनुरोध किया, किन्तु वे अपनी जगह से हिले नहीं। अनेक बार पुकारने पर भी वे नहीं आए। पंडितजी का भाषण हुआ, उनकी निगाह मुक्तिबोधजी पर टिकी थी। कार्यक्रम समाप्त होते ही वे मंच पर से मुक्तिबोधजी के पास गए और उनके कंधे पर हाथ रखा। मुक्तिबोधजी तपाक से बोले—ये विद्यार्थीगण जानते हैं, मैं कौन हूं और मेरे साहित्यिक विचार क्या हैं। आपके साहित्यिक विचार मुझसे भिन्न हैं, अलग हैं, तब इन युवाओं में मेरे प्रति भ्रम होगा, इससे अच्छा है कि आइन्दा आप दूर से ही सहानुभूति दिखाएं

या दोस्ती बरतें। नजदीक की कोशिश नहीं करें।'

मुक्तिबोधजी बेहोश होकर अंतिम घड़ियां गिन रहे थे। तभी मिश्रजी ने उनका दर्शन किया। इलाज की सारी सुविधाएं जुटाने में उनका बड़ा सहयोग रहा, यह सर्वश्रुत है।

राजनादगाव में दिग्विजय कॉलिज में प्राध्यापक का पद मिलने से मुक्तिबोधजी का नागपुर छूटा। पूरा परिवार उधर चला गया। दरमियान मेरे पास उनके संक्षिप्त में लिखे दो पत्र आए थे, उन्हें खोजना पड़ेगा। एक बार मैं राजनादगाव गया। उनसे मुलाकात की। रात-भर घूमते रहे नागपुर की तरह। बातें और चर्चाएं। घुमावदार सीढ़ियां चढ़कर हम उनकी गुफानुमा हवेली (किराए की) के कमरों में बैठे। स्याह दीवारें। मुझे लगा एक पुरानी भयानक इमारत। वहां से दिख रहा था बाहर का विशाल दृश्य। बहती हवा! वह पुरानी इमारत ऐसी लग रही थी, जैसे उनके सृजनशील मन का प्रकट रूप!

नगर के 'नवभारत' में एक दिन समाचार प्रकाशित हुआ. मुक्तिबोधजी अब नहीं रहे। मोर भवन में स्थानीय मित्रों द्वारा शोक-सभा का आयोजन हुआ। उन दिनों दिल्ली के उनके समाचार पढ़ता रहा। मैं मौन रहा। मेरे मौन में भी अर्थ था। कई पत्रिकाओं ने मुझे उत्तेजित किया कि मैं लिखूं। मुझे मौन ही रहना था। अपने मन के भाव व्यक्त करने वाले मुक्तिबोधजी के चित्र मैंने बनाए। भागीरथ भार्गव द्वारा संपादित 'कविता' अंक के विशेष आवरण के रूप में उनका व्यक्ति-चित्र प्रकाशित हुआ। हरिशंकर परसाई और राजनादगाव के शरद कोठारी मेरे बनाए मुक्तिबोधजी के दस चित्र श्रीकांत वर्मा को देने के लिए दिल्ली जाते समय मुझसे ले गए। कई महीने के पश्चात पूछने पर परसाईजी ने कहा कि शरद कोठारी की लापरवाही से वे चित्र गुम हो गए। खैर।

मुक्तिबोध एक विचार सैनिक थे—अपने आप में युगबोध। आने वाली क्रांति शीघ्र लाने में वे रत रहे। लम्बे अर्से से चलनी आयी ध्येयवाद की शृंखला में उन्होंने अपने योगदान की कड़ी लगाई है। वे शरीर से नहीं

रहे, किन्तु उनका वैचारिक व्यक्तित्व मृत नहीं हो सकता। अपनी नग्न हथेलियों पर गर्दन काटकर रखे वे लोग जूझते हुए जी रहे हैं—निजी जीवन के प्रति बेपरवाह होकर आम जनता के सुख के युग को लाने वाले लोग क्या मुक्तिबोध नहीं हैं? मुक्तिबोध व्यक्ति नहीं विचार है, उनका जीवन-संग्राम संस्था का काम कर चुका है। वे अमर हैं। उनका शोक नहीं होगा। श्रद्धांजलि-समारोह की बात करने वाले उनके ध्येय को कुछ और दूर तक चला पाए तो मुक्तिबोधजी वे ही बनेंगे। धन्यवाद!

१६ : मनमोहन मदारिया

टी० टी० नगर, भोपाल : २-७-१९७० : मुक्तिबोध के सम्बन्ध में मेरा एक लेख 'आजकल' (फरवरी, १९६५) में भी प्रकाशित हुआ था, उसे भी आप चाहें तो देख लें, बाकी तो आपने पढ़ ही लिए हैं।

नागपुर में सन् १९५२-५६ तक की अवधि में मुक्तिबोध के साथ मेरा सम्पर्क रहा। वहाँ मैंने विद्याध्ययन समाप्त कर एक सरकारी नौकरी पकड़ी थी और उनके छोटे भाई मराठी के प्रसिद्ध कवि शरच्चन्द्र मुक्तिबोध मेरे साथ ही काम करते थे। शरच्चन्द्र कहा करते थे : मेरे बड़े भाई साहब मुझसे टैन-टाइम्स जीनियस हैं, मगर''' शरच्चंद्र ने अपना काव्य-संकलन—उन्हीं दिनों प्रकाशित—श्री गजानन मुक्तिबोध को समर्पित किया था।

परंपरा को आधुनिक भाव-बोध से जोड़ने और विकसित करने में मैं मुक्तिबोध के योगदान को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। नागपुर में 'युगान्तर' साहित्य-संस्था, जिसके सचिव रामकृष्ण श्रीवास्तव (स्व०) थे, को दृष्टि देने वाले मुक्तिबोध ही थे। त्रैमासिक 'नयी दिशा' भी उन्हीं की प्रेरणा का परिणाम थी, जिसे उन दिनों एक क्रांतिसूचक माना गया था। 'नर्मदा की सुबह' नाम से मध्य प्रदेश के नये कवियों का एक संकलन निकालने की भी उनकी योजना थी, भूमिका भी उन्होंने लिख ली थी, किन्तु आर्थिक स्रोतों के अभाव के कारण वह योजना फलीभूत न हो [illegible] में मराठी वर्चस्व के बीच हिन्दी वर्चस्व को मुखर

करने का श्रेय मुक्तिबोध को ही है।

मुक्तिबोध के जीवन का जितना अंश मैंने देखा, मैं कह सकता हूं कि उसमें निम्नमध्यवर्ग के ईमानदार व्यक्ति की सारी यातनाएं विद्यमान थीं। ऐसा नहीं था कि वह उनसे नजात नहीं पा सकते थे, किन्तु इसके लिए जिन दब्बू समझौतों और खुशामदों की दाता लोग उम्मीद करते थे, वे वह नहीं कर सकते थे। समझौता न करना मुक्तिबोध की प्रवृत्ति रही है। अपनी निम्नमध्यवर्गीय यातना को अकड़ के साथ जीने-भोगने की ज़िद्द मुक्तिबोध के प्रति तरुण पीढ़ी की श्रद्धा का प्रमुख कारण थी। इस मामले में वह जीवंत प्रतीक बन गए थे। संघर्षरत निम्नमध्यवर्गीय बुद्धिजीवी और साहित्य-प्रेमी अपना संघर्ष मुक्तिबोध में घटित होता हुआ पाते थे। मैं समझता हूं, नागपुर में मुक्तिबोध के प्रति नई पीढ़ी के लेखकों के आकर्षण का एक प्रमुख कारण यही था।

मुक्तिबोध अपने ही नहीं, अपने मित्रों के भी बेलाग आलोचक थे। उदाहरण देता हूं: शिवकुमार श्रीवास्तव (संप्रति सागर) की 'पूर्व पश्चिम' कविता उन दिनों सामान्यतः प्रशंसित हुई थी, किन्तु उसी के सम्बन्ध में मुक्तिबोध ने बेझिझक यह कह दिया था कि भई, यह वह लचर है, इसमें झूठी भावुकता के अतिरेक के सिवा कुछ भी नहीं है।'''

जैसाकि आपने पढ़ा-सुना होगा, चाय उनकी कमजोरी थी, चाय पिलाकर लोग उनसे अपने कई काम निकलवा लेते थे, मगर एक बार दामोदर सदन से चाय पीकर भी उनकी व्यंग्यात्मक रचना के सम्बन्ध में मुक्तिबोध ने यह राय दी थी: 'निम्न वर्ग का व्यक्ति, जिसके ऊपर आपने प्रहार किया है, क्या सचमुच उपहास का पात्र है? क्या है? सोचो।'

मुक्तिबोध ज़िंदगी को किस दृष्टि से देखते थे, इसके प्रमाणस्वरूप एक प्रसंग और बताना चाहता हूं। ढलती शाम का वाक़िआ है। नागपुर के जुम्मा टैंक में डूबकर एक नौजवान ने आत्महत्या कर ली। पता चला कि वह नौजवान बेकार था। नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटका करता था। मां-बाप ने समझा कि वह यों ही आवारागर्दी करता

। सो, उन्हें डाटा-डपटा। इससे क्षुब्ध होकर उस नौजवान ने आत्महत्या कर ली थी। मुक्तिबोध के साथ उनके एक सहकर्मी थी जगदीश चतुर्वेदी, जो भारतीय कला के मर्मज्ञ और लेखक हैं। वह उस नौजवान की मृत्यु से अधिक प्रभावित न जान पड़े तो मुक्तिबोध ने उन्हें अपने ढंग से झिड़का, बोले: 'जगदीश, तुम एकदम बुद्धू हो।' चतुर्वेदी ने पूछा, 'क्यों मुक्तिबोध जी, ऐसी कौन-सी बात हुई जो आप मुझे बुद्धू ठहरा रहे हो?' मुक्तिबोध ने कहा, 'तुम्हें एक पत्ते का टूटना तो कचोटता है, लेकिन आदमी के मरने का दुख नहीं होता। तुम आदमी नहीं हो।'

मुक्तिबोध सच्चे मानी में अन्वेषक थे, वह प्रयोगवादी कभी नहीं रहे। वैसे ग्रामीण और महानगरीय जीवन-सम्बन्धी काव्य की जिस प्रतिनिधित्व-प्राप्त चेतना का बोलबाला रहा है, उसके विकास के संकेत मुक्तिबोध में देखे जा सकते हैं। वह युवा पीढ़ी के आक्रोश के भी जनक थे। पक्षधरता, प्रतिबद्धता, नवप्रगतिशीलता के समर्थ मूल्यों के प्रति उनकी महान देन तो सर्वविदित ही है। डॉ० रामविलास शर्मा से एक बार मेरी बातचीत हुई थी। तब हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि मुक्तिबोध प्रगतिशील धारा के श्रेष्ठतम कवि हैं। इस धारा को जीवित रखने का श्रेय उन्हीं को दिया जाएगा।

अनिलकुमार ने मुक्तिबोध के प्रति भूत-प्रेत या तन्त्र-मंत्र के सम्बन्ध में जो-कुछ लिखा है, मैं उसे एक आग्रह मानता हूं। जिज्ञासावश ही मुक्तिबोध ने उधर रुचि ली होगी, अन्यथा ऐसे अन्धविश्वासों का शिकार उन जैसी वैज्ञानिक दृष्टि का साहित्यकार क्या होता? यों तो लोहियाजी से भी इन्दौर में एक ज्योतिषी मिले थे। तब उनके विषय में भी हम अनाप-शनाप धारणा बना लें? यह सब सही नहीं है।

'कहानीकार मुक्तिबोध' विषय पर मैं आपको काफी-कुछ बताना चाहता हूं।'''संक्षेप में यह कि हिन्दी कथा-साहित्य के कोष में मुक्तिबोध का ठोस योगदान है। उनकी कहानियां एक ओर दास्तोएव्स्की की परंपरा को आगे बढ़ाती हैं तो दूसरी ओर नई कथा-प्रवृत्तियों के सभी

प्रमाण वहां उपलब्ध हैं। भविष्य का निष्पक्ष निरीक्षण यह सिद्ध करेगा कि कहानी के क्षेत्र में वह अत्यधिक सफल थे और वहां उनका अपना अलग स्थान है।

देर हो गयी है, अब मुझे दफ्तर जाना है। आप यदि चाहें तो फिर कभी मुझसे मिल सकते हैं। दफ्तर में नहीं, वहा बहुत काम रहता है। मुक्तिबोध के सम्बन्ध में अगर कुछ लिखा, तो आपको सूचित करूंगा—याद दिला देना।

१७ : हरि ठाकुर

कंकालीपारा, रायपुर : ३०-६-१६७० : मुक्तिबोध से मेरा परिचय नागपुर के नये साहित्यिक वातावरण मे हुआ था। उन दिनो वह आकाशवाणी मे काम करते थे, मैं 'साम्ययोग' मे था। उनके घर के नज़दीक ही मेरा कमरा था। वह अक्सर वहा आ जाया करते थे। खुद ही चाय बनाकर पी लेते थे। यह भी पूछ लेते थे कि इससे मुझे किसी प्रकार की असुविधा तो नहीं हो रही है। मैं उनका बहुत आदर करता था, इसलिए संकोच का वैसा भाव हमारे बीच नहीं था। एक बार घर पर कोयला नही था तो मुझसे आठ आने मागकर वह बाज़ार से स्वयं कोयला ले आए थे। चाय और बीड़ी के वह बहुत शौकीन थे। आर्थिक दृष्टि से उनकी स्थिति शोचनीय थी, यह हम जानते थे।

उनकी मानसिक क्षमता विलक्षण थी। साहित्यिक क्षेत्र के अलावा दूसरे विषयो का उन्होने गहन अध्ययन किया था, जिसकी झलक उनके डिस्कशन मे अनायास ही आ जाती थी। दूसरो के साथ विभिन्न विषयो पर बहस करना वह बहुत पसद करते थे। ऐसे अवसरो पर मै भी अनेक बार उपस्थित रहा हू। उनकी विचारगोष्ठिया मजमेबाजी नही होती थी। निश्चित निष्कर्ष पर पहुचने-पहुंचाने का ही वह सर्दैव प्रयास करते थे। वह कहा करते थे, 'वैज्ञानिक युग मे रहकर भी हम विज्ञान को आत्मसात नही कर पा रहे हैं।'

अपने प्रगतिशील विचारो के कारण मुक्तिबोध को नागपुर में

ावादियों के विरोध का बौद्धिक सामना करना पड़ा था। आस-पास
ण कवियों को वह प्रोत्साहित करते रहते थे। अपनी राय देने के
में वह निर्मम-रुख हो जाते थे। मैं गीत लिखता था। वह कहते,
ीतों का युग नहीं है।' छायावादी शब्दों से उन्हें चिढ़-सी थी।
ो गीत उन्हें पसंद आते थे, उनके कुछ शब्दों के सम्बन्ध में वह
देते, 'पार्टनर, इन्हें निकालो, इन्होंने एक बढ़िया चीज में अतिरेक
या है।' यहां मेरा यह आशय कदाचित नहीं है कि मुक्तिबोध में
रेक जड़ता थी या किसी प्रवृत्ति-विशेष के प्रति उनमें आग्रह था।
विपिन जोशी के गीतों को वह प्रायः सराहा करते थे। नये भावबोध
ुकूल रचनाएं ही उन्हें प्रभावित कर सकती थीं।

राजनांदगांव में भी मैं कई बार उनसे मिला था। वह बहुत
ीयता का बरताव करते थे। शांता भाभी उनकी सच्ची सगिनी
ं। आजकल वह यहीं रायपुर में हैं। इतने नजदीक रहकर भी
ने मिलने का साहस नहीं कर पाता हूं। क्या मिलूं, पुरानी याद
हो जाती है। वहां जाकर उन्हें रुलाने से क्या फायदा ?

१८ : शरद कोठारी

प्रेस, राजनांदगांव : १६-६-१६७० · आप आए, यह प्रसन्नता की
। मैं कल ही बाहर से लौटा हूं। आज मंगलवार है, बुधवार
पत्र के निकलने का वार होता है, इसलिए थोड़ा व्यस्त हू । परसों
त होगी, तब जमकर बैठेंगे। वैसे आप जब भी चाहे मेरे पास आ
हैं, मैं यहां प्रेस मे होता हू या पास ही घर पर। कल आप रमेश
स मिलाई हो आए, उन्हे आपके इधर होने की सूचना मिल जाएगी
मिलने के सम्बन्ध में भी निश्चित कर लेना। यहा और लोगों से भी
को मिलाऊगा, कॉलेज भी दिखाऊगा, वह जगह भी जहा मुक्तिबो
करते थे।

लीजिए, यह मेरी पुस्तक है। नहीं-नहीं, लौटाने की क्या जरूर
अब यह आपकी ही हो गयी। 'दिग्वी मर गया' से राजनादगांव
न्ध में आपको कुछ परिचयात्मक जानकारी भी हो सकेगी, वै
नांदगाव रियासत के अंतिम नौजवान राजा दिग्विजयदास
हास्पद मृत्यु की कहानी ही प्रस्तुत पुस्तक का विषय है। जब
तक 'सवेरा-सकेत' में क्रमशः प्रकाशित हो रही थी, यहा बड़ा हंगा
ता था।

मेरे पास मुक्तिबोध की एक अपनी फाइल है, जिसका उपयोग
र सकते हैं। उसमें 'सारथी' और 'नया खून' के मुक्तिबोध-लिखि
खों का सग्रह भी आपको उपलब्ध होगा। अपनी वह डायरी भी

आपको दिखाऊंगा, जिसमें मुक्तिबोध के साथ हुई विविध चर्चाओं का उल्लेख है। आप बैठिए, आपके यहां होने से मैं अपने काम में किसी प्रकार की बाधा अनुभव नहीं कर रहा हूं। अरे साहब, संकोच छोड़िए, कितनी दूर से आप यहां हमारे पास आए हैं।

१८-६-७० : अच्छा रहा आप रमेश भाई के पास हो आए। भिलाई में उनके यहां काम करने की अवधि में आप ठहरने की व्यवस्था दुर्ग में हो गई। वहां रहकर आप राजनांदगांव और रायपुर में भी संपर्क बनाए रख सकते हैं। आने-जाने में कोई दिक्कत नहीं होगी। प्रेस के आपने अपने पत्र में लिए होंगे।

'दिग्वी मर गया' आपने आद्यान्त पढ़ ली है, आपको बहुत पसंद आयी, अब मैं क्या कहूं? दिग्विजयदास की जनवरी, १९५८ में मृत्यु और मुक्तिबोध के जुलाई, १९५८ में राजनांदगांव में आगमन से एक तथ्यपूर्ण सिलसिला जुड़ता है या यहां की इस सत्य-कथा के कतिपय अंशों का उपकरण रूप में मुक्तिबोध ने अपने काव्य में उपयोग किया है, यह आपके अपने अध्ययन का विषय है। लिखित प्रकाश में आने से पूर्व दिग्विजय की कल्पित-अकल्पित कहानी राजनांदगांव की हवा में तैरती रही है, जिससे मुक्तिबोध निश्चित रूप से परिचित रहे होंगे।

अब आपकी योजना के अनुसार मैं मुक्तिबोध के सम्बन्ध में अपनी सिलसिलेवार स्मृतियां बताने का प्रयास करूंगा।

नागपुर में मैं सन् १९५२-५४ की अवधि में मॉरिस कॉलेज का विद्यार्थी रहा था। वहां जाने से पूर्व मुक्तिबोध के सम्बन्ध में मेरी जानकारी नहीं के बराबर थी, बस नाम सुना होगा। नागपुर में वह बहुत चर्चित थे, यद्यपि तब तक हमारे परिचय का कोई सम्बन्ध नहीं था। वह सूचना तथा प्रकाशन विभाग में काम करते थे।

[illegible] कॉलेज की हिन्दी साहित्य समिति का मैं अध्यक्ष था। हम [illegible], से विद्यार्थियों की एक पत्रिका भी निकालते थे। समिति [illegible] ने एक [illegible] मुक्तिबोध को अपने कॉलेज में आमंत्रित

लिया। उनके प्रत्यक्ष दर्शन का मेरे ऊपर कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। वह कुछ लापरवाह-से, अद्भुत और उदासीन, आत्मलीन ही मुझे दिखाई दिए। वेशभूषा तो बहुत ही साधारण थी—मामूली सूती कमीज और पेंट। उनका भाषण किसी साहित्यिक प्रवृत्ति पर था, मुझे अब ठीक तरह याद नहीं है। वह बहुत जल्दी-जल्दी बोलते थे। शब्दावली यद्यपि सामान्य ही थी, किन्तु अपने विचारों को वह जिस संश्लिष्ट पृष्ठभूमि में प्रस्तुत कर रहे थे, वह अनुपम थी। साहित्य को राजनीति और समाज के संदर्भ में समझने की उनकी पद्धति विषय को अत्यधिक सूक्ष्म और विशद् रूप दे देती थी, जिससे स्वभावतः उनका विवेचन क्लिष्ट प्रतीत होने लगता था। उस दिन उनके भाषण को मैं पूरी तरह ग्रहण नहीं कर पाया था, यद्यपि सब पर उनकी प्रतिभा का आतंक-सा व्याप्त हो गया था।

उन दिनों 'कामायनी' के सम्बन्ध में 'हंस' और 'आलोचना' में प्रकाशित मुक्तिबोध के आलोचनात्मक निबन्ध तथा मुद्रित ग्रंथ साहित्य जगत् में बहस का विषय बने हुए थे। 'नया खून' क्रान्तिकारी और प्रगतिशील विचारों का मंच था, जिसमें मुक्तिबोध के लेख, यह सर्वविदित था कि वह छद्म नाम से लिखते हैं, विशेष सारगर्भित हुआ करते थे। प्रमोद वर्मा तब एम० ए० कर रहे थे, वह मेरे परिचित थे। उनके और विद्रोहीजी के माध्यम से मैं पहली बार मुक्तिबोध के यहाँ गया।

मुक्तिबोध आदमी को पहचानने में बड़े माहिर थे। कोई चमक-दमक दिखाकर या अतिरंजित आत्म-प्रदर्शन से उन्हें प्रभावित नहीं कर सकता था। आडंबरी-प्रतिष्ठाप्राप्त व्यक्तियों का उन पर कोई असर नहीं था, न दिल से और न ही दिखावे के लिए वह उन्हें आदर दे सकते थे। यह बात बिलकुल दूसरी है कि जब कोई ऐसा व्यक्ति उनके घर पहुँच जाता था तब उसके साथ वह सार्वाधिक विनम्र भाव से मिलते थे, चाय-पानी-सुपारी आदि से उसकी खातिर करते थे, इसलिए वह अभिमान में नहीं जीते थे, यद्यपि ऐसों से मिलने में उन्हें एक खीज

कोतर होती थी। वह प्राय अपने स्तर से बातें करते थे, जिसमें नीचे उतरकर मिलना उनके लिए सम्भव नहीं था। ऐसी स्थिति में विशिष्ट व्यक्ति ही उनके घनिष्ठ बन सकते थे। कई बार बातचीत में वे परम सहजता भी अख्तियार कर लेते थे। अपनी सी० आई० डी० से हुई मुलाकात को उन्होंने बहुत ही विनोदपूर्ण शैली में हमें सुनाया था कि किस प्रकार वह पुलिस ऑफिसर उन्हें पैसे का लालच देकर 'इन्फॉर्मर' बनने के लिए फुसलाता रहा था और किस प्रकार उनके मनोभाव के प्रति उन्होंने अपनी विवशता प्रकट की थी। मुक्तिबोध को यूं फुसलाकर खरीदना किसी के बूते की बात नहीं थी। वह गरीबों के भाव बिके गए, अमीरों के भाव नहीं बिके—कभी झुके नहीं।

नागपुर में लिटरेरी मीटिंग-राउंड में मैं मुक्तिबोध के और निकट आया। मेरे प्रति वह वात्सल्य-भाव रखते थे। अपने घर से खाना खिलाए बिना भेजना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। एक बार होली खेलते भी हम उनके शुक्रवारी स्थित मकान पर गए थे। वह मकान आपने तो देखा होगा, उसे एक लिहाज से नरक कहना चाहिए, मगर वहां बड़े-बड़े जाकर बैठे हैं, रात-दिन वहां रहे हैं!

जैसाकि आपने भी सुना-पढ़ा होगा, मुक्तिबोध में असुरक्षा · रहा है। नागपुर में इस भावना के बनने के अनेक कारण थे, बहुत बाद में पता चला। वहां अपने व्यक्तित्व के सर्वथा, *परिस्थितियों से मुकाबला करते-करते वह तनाव और खिचाव* जीवन जीते थे। मैं यह स्वीकार करता हूं, कि नागपुर मुक्तिबोध के जीवन का आन्तरिक अध्ययन नहीं कर

नागपुर से यहां आकर मुक्तिबोध के सम्बन्ध में जानकारी मिलती रही। सुना कि वह अब · : . . . ,च नौकरी उन्होंने छोड़ दी है, 'नया खून' । . . . . क ... ल वह *बिलकुल बेकार हैं*। *मैंने तब* ... में अनेक महानुभावों के सहयोग से

कॉलेज की स्थापना कराने मे हमें सफलता प्राप्त हो गयी थी। प्रमोद वर्मा और किशोरीलालजी शुक्ल के भतीजे, वह मेरे नागपुर के दोस्त थे, के परामर्श से हमने मुक्तिबोध को यहा अपने कॉलेज मे लाने की योजना बनाई। उनसे प्रार्थना-पत्र लिखने को कहा गया। कॉलेज की मैनेजिंग कमेटी ने अपने हेल्दी एटीट्यूड का परिचय दिया और मुक्तिबोध लेक्चरर नियुक्त कर लिए गए।

नागपुर से राजनांदगाव आने की बात पर वह बहुत प्रसन्न थे, किन्तु उनके रास्ते में एक विशेष अड़चन भी थी। मालूम हुआ, कि उन पर बहुत से लोगो का कर्ज है और कुछ रकम तो ऐसी है जिसे चुकाए बिना उनका नागपुर से छुटकारा हा सभव नही है। खैर, इस विषय मे कुछ लिखने की आपको जरूरत नहीं है। उन्हे यहा लाना था और वह लाए गए।

बाकी बातें कल या परसों। मुझे अब कोर्ट जाना है। चलो, खाना खाते हैं। आपकी जिद्द बेकार है। इसका मतलब यह हुआ कि हम दिल्ली आएगे तो आप अपने घर पर खाना नही खिलाओगे। जैसा बना होगा, खा लेना, कोई आतिथ्य की तैयारी तो हमने की नहीं हुई है।

१६-६-७० : मुक्तिबोध के जीवन का अंतिम अध्याय, चलाचली से पूर्व, जो राजनांदगाव के साहित्यिक-सास्कृतिक शात वातावरण मे बीता, उनके सृजन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यहा आकर उन्होंने सुरक्षा की सांस ली और उन्हे यायावरी जीवन-वृत्ति से छुटकारा मिला। उनके भीतर स्थायित्व की भावना का उदय हुआ। इससे पूर्व वह प्रतिभासपन्न आत्मा निष्कासन, उपेक्षा, घिराव, तनाव, अकेलेपन आदि से 'हांटिड' थी। मैं यह सब अपनी जन्मभूमि के प्रति श्रद्धा-भाव के कारण नहीं कह रहा हूं, इसके पीछे मुक्तिबोध के साथ बिताए आत्मीय क्षणों की स्मृति और मेरा व्यक्तिगत अनुभव बोल रहा है। यहा उन्हें अपने विद्यार्थियों, सहयोगियो और मित्रों-हितैषियों का बहुत-बहुत आदर-प्यार मिला। इस छोटी-सी नगरी में उन्हे अपने अध्ययन-योग्य

पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती रहे, इसका ध्यान रखा जाता था। अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त उनका शेष समय प्रायः लेखनकार्य में बीतता था। अपनी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं का सुधार और निर्माण उन्होंने यहीं रहकर किया। छत्तीसगढ़ के इलाके ने उन्हें यथोचित मान-सम्मान दिया। आर्थिक दृष्टि से वह सम्पन्न हो गए थे, यह तो कदाचित् नहीं कहा जा सकता, किन्तु निश्चिन्तता का भाव उनमें अवश्य उत्पन्न हो गया था। वह कहा करते थे : राजनांदगांव को छोड़कर अब मैं कहीं नहीं जाऊंगा।

नागपुर से यहां आकर वह पहले बसंतपुर में रहे। बसंतपुर का शांत-स्वच्छ वातावरण, प्राकृतिक सौंदर्य उन्हें बहुत अच्छा लगता था। फिर उन्हें कॉलेज में ही मकान मिल गया। वह मकान आपने देखा ही होगा, कितना बड़ा है। कभी वह रियासत के राजा का महल था। उसके एक ओर रानीसागर और दूसरी ओर बूढ़ासागर, दो तालाबों का नीला जल लहराता है। वह अक्सर बाहर की ओर कुर्सी डालकर लिखते-पढ़ते रहते थे।

राजनांदगांव के सुखी जीवन में भी बीमारी ने मुक्तिबोध का पीछा शायद ही छोड़ा। परिवार में कोई-न-कोई उसका शिकार बना ही रहता था। उनका पुत्र दिवाकर तो बहुत दिनों तक अस्तमा से पीड़ित रहा। रोगी पुत्र को सीलन से दूर रखने के लिए उन्हें एक अलग जगह लेबर कॉलोनी में लेनी पड़ी। इस प्रकार दो व्यवस्थाओं और इलाज में उनका काफी पैसा जाया हुआ। माता-पिता की सेवा के लिए भी उन्हें बहुत जोड़-तोड़ करना पड़ता था। अंतिम दिनों में दिवाकर बिलकुल ठीक हो गया था। हालत सुधरते-सुधरते वह स्वयं बहुत दुर्बल हो गए थे। संतुलित भोजन के अभाव और चाय-बीड़ी की अधिकता ने उन्हें जर्जर बना दिया था।

[illegible] 'इस विषय में आप कॉलेज के उनके साथियों [illegible] से मिलें, यही बेहतर होगा। प्रो० पार्थ सारथी उनके

बहुत निकट रहे हैं। वह प्रायः साथ घूमते पाए जाते थे। मैं भी कभी-कभी उन लोगों के साथ घूमने जाया करता था, तब विविध विषयों पर गभीर वाद-विवाद मे भाग लेने का अवसर मिलता था। हम दूर एक ऊंचे टीले पर जाकर बैठ जाते थे, वहा घटो बातें करते रहते थे। कॉलेज का काम समाप्त कर वह प्रतिदिन हमारे घर अवश्य आते थे। मैं वहां होऊं या न होऊं, दफ्तर से पत्र-पत्रिकाएं उठाकर वह उस तख्त पर तकिए के सहारे बैठे-बैठे पढते-लिखते रहते, नोट लेते रहते। घर में इस्ट्रक्शन थी कि उनके आते ही एक कप चाय फौरन पहुचा दी जाए। 'सवेरा-सकेत' उन्ही का एक स्वप्न था, जिसे साकार करने मे मैं उन्हीं की प्रेरणा से अग्रसर रहा हूं। वह खुद सारा प्रारूप देखते थे। तब वह एक विशुद्ध पत्रकार लगने लगते थे। उन दिनो के कॉलमो की भाषा और उसके तेवर आप देखिए—उन्हे शब्द गढने में महारत हासिल थी। 'सवेरा-सकेत' को आज जो प्रतिष्ठा प्राप्त है उसका मैं तो कहता हूं, सारा श्रेय मुक्तिबोध को है। वही मार्गदर्शक थे।

मुक्तिबोध मे कृतज्ञता का असीम भाव था। आप थोडे-से भी उनके काम आ गए, वह एहसानमद हो जाते थे, भूलते नही थे। यू किसी से सहायता लेने मे वह बहुत सकोचशील थे, किन्तु विवशता के कारण यदि वैसी स्थिति आ जाती थी तो उनका रूप देखने ही लायक होता था। वह ऐसा महसूस करते थे, जैसे आप कोई उनके लिए आसमान उठा रहे हैं।

अपनी पुस्तक 'भारतः इतिहास और संस्कृति' के सरकार द्वारा कानूनन जब्त किए जाने से मुक्तिबोध को बहुत गहरा सदमा पहुचा था। वह कई दिन तक खोए-खोए-से रहे। दरअसल उनका सदमा राजनीति की भयकर प्रतिक्रिया का परिणाम था। अपनी पुस्तक के जब्तीकरण को वह लेखक की विचार-स्वतन्त्रता और लेखन-स्वातन्त्र्य के लिए खौफनाक खतरा मानते थे, क्योंकि सरकार ने वह निर्णय साप्रदायिक दबाव मे आकर लिया था।

मुक्तिबोध की बीमारी, मनःस्थिति और इलाज के बारे में मैं अब यहां बताऊं, आपने इधर-उधर सारा किस्सा सुन-पढ़ लिया होगा। भोपाल में नेहरू जी के देहांत का समाचार सुनकर अचेतन-सी अवस्था में ही मुक्तिबोध आंदोलित होकर कह उठे थे : पार्टनर, बस अब फासिज्म आ जाएगा!

आन्वेषकाओं का हिन्दू रीति से विवाह-संस्कार भी हमीदिया अस्पताल में ही संपन्न हुआ था, यद्यपि वह था एक प्रकार से प्रहसन-सा ही। मुक्तिबोध ने कन्यादान किया, मुझे भाई बनाया गया। आन्येषकाओं मुक्तिबोध को पिता की तरह मानती थी। राजनांदगांव में वह चार-पांच दिन मुक्तिबोध के यहां रही थी और उसी संगति के परिणामस्वरूप उनमें यह पूज्य भाव पैदा हुआ था।

और जो बातें आप पूछना चाहें, अभी तो यहां हैं ही। अब चलो, महल तक हो आएं। वहां आप···चलो, वहीं बातें करेंगे।

१९ : किशोरीलाल शुक्ल

राजनांदगांव : २६-६-१९७० : मुक्तिबोध के सम्बन्ध में अपनी बात मैं बहुत संक्षेप में आपको बता देता हूं। उनका असली भक्त तो यहां पार्थसारथी था, उसे लेकर वह किसी थर्ड-क्लास होटल में बैठे रहते थे। वैसे उनके महत्त्व को हम सभी स्वीकार करते थे और उन्हें यहां जगह दिलाने के पीछे भी कदाचित् आदर का वही भाव रहा था।

पृष्ठभूमि यही है कि सन् १९५५ में हमने 'राजनांदगांव शिक्षा-मंडल' की स्थापना की थी। मैं मिल की नौकरी और वकालत आदि छोड़कर शिक्षा संस्थाओं के निर्माण में ही ज्यादातर संलग्न रहने लगा था। राजनांदगांव में कॉलेज का अभाव बहुत दिनों से अनुभव किया जा रहा था। अतः सागर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कॉलेज खोलने के सम्बन्ध में उचित प्रयास किए गए। पहले बारह हजार रुपये जमा कराने की व्यवस्था की गयी और १९५७ में डिग्री कॉलेज खोलने की हमने अनुमति प्राप्त कर ली। मैं १९६६ तक अवैतनिक रूप से ही इस कॉलेज का प्रिंसिपल रहा, फिर राजनीति में चला गया।

दिग्विजय कॉलेज में मुक्तिबोध की नियुक्ति १९५८ के मध्य में हुई थी। नियुक्ति के पूर्व शरद कोठारी ने उनकी सिफारिश की थी। मैंने कॉलेज के चैंबर में बैठाकर उनका इण्टरव्यू लिया था। सिर्फ एक शर्त मैंने उनके सामने रखी थी—यह कि अपने सिद्धान्तों के प्रति वह पूर्ण आस्था रख सकते हैं और इस लिहाज से यहां कभी कोई दिक्कत भी

नहीं होगी, लेकिन विद्यार्थियों पर अपनी विचारधारा को थोपने का वह कदाचित् आग्रह नहीं रखेंगे। उन्होंने इस शर्त को मंजूर कर लिया था। मैं समझता हूं कि अपने वायदे को उन्होंने *अंत तक निभाया* भी था। वैसे भी कोई संकुचित भाव या आग्रह उनमें नहीं था। अपने सहयोगियों की बैठक में अपने सिद्धांतों और विचारों के प्रति चाहे वह कितने भी उग्र रहे हों, किन्तु विद्यार्थियों के मामले में उनका ध्यान अपने पाठ्यक्रम तक ही केन्द्रित रहता था।

जिस पद पर मुक्तिबोध की नियुक्ति की गयी थी, उसके लिए मेरी एक रिश्तेदार श्रीमती वैकुंठ ने भी एप्लाई किया था। वह पी-एच. डी. थीं। फिर भी, कई कारण थे, कि हमने मुक्तिबोध को लेना ही उचित समझा। *नियुक्ति के बाद जब मुक्तिबोध को इस बात का पता चला तो* वह अपना त्यागपत्र लेकर मेरे पास आए और भावुक लहजे में कहा कि मेरी वजह से दूसरे उम्मीदवार के साथ अन्याय हुआ है, चूंकि वह मुझसे ज्यादा क्वालिफाइड थीं। मैंने उन्हें समझाया कि चिन्ता करने की जरूरत नहीं है, आपकी योग्यताओं को हम बखूबी जानते हैं, फिर आपकी अपेक्षा दूसरे उम्मीदवार को *नौकरी की वैसी जरूरत भी नहीं* थी। इस घटना का जिक्र मैंने राजनांदगांव में मुक्तिबोध-स्मृति समारोह के अवसर पर भी किया था।

मुक्तिबोध जब यहां आए थे, तब उन पर कर्ज का भारी बोझ था। कई डिक्रियां उनके पीछे बहुत दिनों तक घूमती रहीं। ज्यों-त्यों करके हमने उन सबका भुगतान किया-कराया या मामले को ही रफा-दफा किया। उनका वेतन मिलने से पहले ही उड़ जाया करता था। बेचारी शान्ताबाई को घर का खर्च चलाने में बहुत परेशानी का सामना करना पड़ता था। यह जानकारी जब मुझे मिली तो मैंने उनका वेतन उनके हाथ में देना बंद करा दिया और सारा बजट खुद बनवाना शुरू किया। पांच-सात रुपये उन्हें जेब-खर्च के लिए दिए जाते थे। इस प्रकार उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न किया गया। यह मेरी

हिदायत थी कि वह जो इतनी चाय पीते हैं तो पाउडर की चाय ही उन्हें मिलेगी, शुद्ध दूध बच्चों को दिया जाएगा। हमारी इन करतूतों और डाट-डपट को वह अपने ऊपर एहसान मानते थे। उन्हें अच्छी तरह पता था कि हम उनके भले के लिए ही वैसा करते हैं। वैसा न किया गया होता तो उनकी हालत में सुधार के लक्षण कभी नज़र ही न आते।

उनकी बीमारी का हाल तो आपने सुन ही लिया होगा। उन्हें बचाने के लिए हमने यहां जितना हो सकता था, उतना किया। फिर मिश्राजी के कारण, चूंकि वह लिटरेरी व्यक्तियों में विशेष रुचि रखते हैं, सरकारी स्तर पर इलाज करवाने की व्यवस्था में सफलता मिल गयी थी।

अध्यापक के रूप में मुक्तिबोध बहुत ईमानदार थे। मुझे कभी किसी शिकायत का मौका नहीं दिया। होम-वर्क तक वह बड़े मनोयोग से देखते थे। विश्वविद्यालय की कॉपियां देखते-देखते जब एक बार बहुत व्यस्त थे, तो किसी साथी ने मजाक कर दिया था कि एक घंटे के काम में एक दिन क्यों लगाते हो? इस पर वह बिगड़ गए थे: 'मैं बेईमानी का खाना नहीं चाहता हूं।' यूं वह अकसर सभी के साथ सहृदयता का बरताव करते थे, लड़ाई-झगड़ा उन्हें पसंद नहीं था।

२० : मेघनाथ कनोजे

दिग्विजय महाविद्यालय, राजनांदगांव : २६-६-१९७० : मुक्तिबोध के राजनांदगांव आने से पूर्व मेरा उनसे मानसिक परिचय ही रहा था। 'तारसप्तक' के सहयोगी कवि और 'नया खून' के उद्‌भट लेखक के रूप में ही मैं उन्हें जानता था। यहा आने पर उनके जीवन का निकटता से अध्ययन करने का अवसर मिला। तब मैं वाइस प्रिंसिपल था, शुक्लाजी ने ही उनका इण्टरव्यू लिया था।

नागपुर में मुक्तिबोध त्रस्त थे, आर्थिक दृष्टि से उनका जीवन अस्थिर था, एक तरह से वह अपनी हाटिड प्रसनेलिटी से आक्रात थे। यह सब हम सभी ने तब अनुभव किया था, जब वह यहां आए-आए थे। राजनादगांव में आना उनके लिए विचित्र सयोग सिद्ध हुआ। यहां उन्हें वह सब मिला, जिसकी उन्हें जरूरत थी—आदर, प्यार, सहानुभूति और सहयोग।

यह सौभाग्य की बात है कि दिग्विजय कॉलेज का वातावरण शुरू से ही स्वस्थ और शान्त रहा है। यहा किसी को अपनी विचारधारा की भिन्नता के कारण कभी किसी प्रकार के बंधन का अनुभव नहीं हुआ। विचार-स्वातंत्र्य व्यक्ति का अधिकार है, यह यहां का आदर्श और विशेषता रही है। हम सब मे स्वभावतः थोड़ी-बहुत सिद्धातगत भिन्नता रही है, जिस पर वादविवाद भी खूब हुआ है, किन्तु क्या मजाल कि कभी कोई कटुता हमारे बीच आयी हो।

मुक्तिबोध का व्यक्तित्व विशुद्धत: वैचारिक था। अपने सिद्धान्तों के प्रति उनमें इमोशनल रुझान भी थी। अपनी उग्र विचारधारा पर वह अनुशासन रखने का प्रयास करते थे, यद्यपि यहा यह आश्वासन था कि विपरीत स्थिति कदाचित् ही उत्पन्न होगी। मार्क्सवाद के प्रति आस्था रखने के कारण साम्यवादी राष्ट्रों की प्रगति उन्हें उत्साहित किए रखती थी। रूसी स्पुतनिक की अतरिक्ष उडान से वह अत्यधिक प्रसन्न हुए थे। किन्तु उनकी आस्था अंधविश्वास या अंधश्रद्धा की द्योतक नहीं थी। चीनी आक्रमण की उन्होंने कड़े शब्दों में भर्त्सना की थी। कहते थे : 'चीन ने यह सबसे बड़ी गलती की है; इससे विश्वव्यापी कम्युनिस्ट शक्ति लम्बे समय के लिए छिन्न-भिन्न हो गई है।' मुक्तिबोध में राजनैतिक चेतना अत्यधिक तीव्र मात्रा में थी। हम उन्हें इण्टरनेशनल पॉलिटिक्स का एक्सपर्ट मानते थे। कॉलिज में जितने दैनिक और साप्ताहिक-मासिक मंगाए जाते थे, उनका वह बड़े मनोयोगपूर्वक अध्ययन करते थे।

कवि-कलाकार सामान्यत: अलॉटिड वर्क्स के प्रति उदासीन पाए जाते हैं, किन्तु जहा तक मुक्तिबोध का सम्बन्ध है वह एक ईमानदार अध्यापक थे। बीमारी के कारण उनका पाठ्यक्रम थोड़ा पीछे रह गया था तो उसे उन्होंने एक्सट्रा क्लासें लेकर पूरा किया था। विद्यार्थियों को वह अपने घर पर बुला लेते थे और लेटे-बैठे पढ़ाया करते थे। हमारे कॉलिज में तब बी० ए० तक की कक्षाएं थी। मुक्तिबोध की इच्छा थी कि एम० ए० खुल जाए जिससे उन्हें गंभीर विश्लेषण का अवसर मिले, अन्यथा विद्यार्थियों के मानसिक स्तर का उन्हें ख़याल रखना पड़ता था।

मुक्तिबोध की आर्थिक स्थिति—जब वह नागपुर से आए थे—बहुत ही शोचनीय थी। यहा रहकर स्थिति में कुछ सुधार आया या कहिए कि वह लाया गया। घर की हारी-बीमारी ने उन्हें इस दलदल से कम ही छुटकारा लेने दिया था। बहुत दिनों तक तो वह दिवाकर (उनका बेटा)

२१ : शरद जोशी

टी० टी० नगर, भोपाल १-२-१९७० आदाब, बाहर बरामदे में बैठो हूं। अच्छा हुआ आप घूमते-घामते आ गए, शाम को मेरा कोई ठिकाना नहीं होता, भोपाल के किसी भी कोने में हो सकता हूं। पहले आप इत्मीनान दूर कर लें, तब तक मैं आपका स्वलिखित देख लेता हूं। हां, आपका पत्र मिला था, उत्तर की बात टालता रहा, कहिए कि समय नहीं मिला। मसि-जीवी हूं, बिना कुछ प्राप्त किए लेखनी चलाना क्या जानो? पकगहतापा नहीं, मजाक कर रहा हूं। आप अपने महत्वपूर्ण काम से यहां आए हैं, जितना समय चाहें, आपका है, वरना बैठे-बैठे रचना कैसे-कैसे हजरत फिजूल समय पीने आएंगे !

मुक्तिबोध पर मेरा कोई दावा नहीं है। दावेदार और बहुत मिल जाएंगे—कमी नहीं है। जो जन-जन का होकर जिया हो, उस पर एक का क्या दावा—दावेबाजी की बात दूसरी है। मुक्तिबोध—शुजालपुर से मृत्युपर्यन्त—सत्यान्वेषी रहे। ऐसे व्यक्ति के जीवन का सच्चा स्वर उनके सृजन के माध्यम से पहचानना चाहिए, यद्यपि बाह्य तथ्यात्मक सूचनाएं कहीं-कहीं उनको समझने में उपयोगी हो सकती हैं।

गुजरे हुए जमाने की बात लगती है—उज्जैन के वे दिन, विश्व-मंच पर द्वितीय महायुद्ध की काली छायाएं और मेरा बचपन। साहित्य के प्रति ध्यान तभी से रही है, अनायास ही जिसका विश्लेषण नहीं कर सकता। उन दिनों उज्जैन की साहित्यिक फिज़ाओं में माचवेजी

और मुक्तिबोध का नाम गूंजता था। ग्वालियर स्टेट का पुराना शहर उज्जैन'''वातावरण में एक विशिष्ट उन्मुक्तता थी'''यंग-ग्रुप के लीडर मुक्तिबोध को हम आदर की निगाहों से देखते थे। मैं छठी या सातवीं कक्षा का विद्यार्थी रहा हूंगा'''मुक्तिबोध झूमते हुए कहीं जा रहे थे''' उनके पीछे-पीछे, बीस-तीस कदम का फासला बनाए, मैं देवास गेट से कार्तिक चौक तक गया—एक अबूझ बन्धन से बंधकर। बचपन की याद आते ही आदमी भावुक हो जाता है। नहीं?

बताया न आपको, साहित्य के प्रति अपनी रुझान का विश्लेषण करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। वह थी और बस! हां, लेखन के प्रति उत्तरदायित्व की बात निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है। उज्जैन में एक साहित्य-गोष्ठी का आयोजन किया गया था। मुक्तिबोध नागपुर से आमन्त्रित थे। गोष्ठी में मुझे अपनी 'कहानी की लाश' (प्रकाशित 'हंस'—१९५०) पढ़नी थी। मेरे पढ़ने की बारी आ गयी मगर मुक्तिबोध का वहां कहीं पता न था। मैं इंतजार में था, जैसे अपनी रचना मैं सिर्फ उन्हीं को सुनाना चाहता था! मैंने सुनाना शुरू किया वह तब भी नहीं आए, बेकरारी बढ़ने लगी। दस-बीस पंक्तियां पढ़ी होंगी, सुमनजी के साथ मुक्तिबोध आते हुए नजर आए, जान में जान आयी—पंक्तियों की पुनरावृत्ति कर दी। पठित रचनाओं की चर्चा के दौरान बूढ़े बाबाओं ने मेरी बखिया उधेड़नी शुरू की। मुक्तिबोध पहले चुपचाप सुनते रहे, फिर एकाएक और एक पॉज लेकर, जैसे उछलकर कह उठे, 'मैं चर्चित रचना की एक-एक पंक्ति की ताईद करता हूं। आइए, बहस कीजिए।' बहुत-कुछ अब याद नहीं है, वैसे भी लम्बा किस्सा है, मगर पहली बार लेखन के प्रति उत्तरदायित्व की भावना का मुझमें उदय हुआ, अन्यथा तब तक मेरी प्रतिक्रिया भावात्मक खिंचाव के दायरे में बंद थी। कुछ ऐसी भी घटनाएं होती हैं जो दायरे तोड़ देती हैं।

मुक्तिबोध के साथ मेरे व्यक्तिगत सम्बन्ध-सम्पर्क का ऐसा कोई इतिहास नहीं है, जिसकी कड़ियों को सिलसिलेवार जोड़ा जा सके।

उज्जैन छोड़कर मैं भोपाल आ गया था और मुक्तिबोध [illegible] नागपुर जा पहुंचे थे। उनके जीवन को निकटता से अध्ययन करने का सुयोग मुझे कदाचित् ही मिल सका, यद्यपि प्रकाशित रचनाओं के माध्यम से उनकी विचारधारा के सम्बन्ध में मेरी जानकारी बराबर बनी रही; उनके पत्र-व्यवहार के सम्बन्ध में भी मैं अनभिज्ञ नहीं रहा। मुक्तिबोध को जानने-समझने के लिए यह बिल्कुल जरूरी नहीं है कि मैं अपने मन के भीतर रचाये प्रेरक-मुक्तिबोध का विश्लेषण करने बैठूं, चूंकि तब वह आत्मप्रतिपादन हो जायगा। सन् १९५८ में, उन दिनों जब मैं अपने न लिख पाने की परेशानी से गुजर रहा था, मुक्तिबोध भोपाल आए। वह भारतभूषण अग्रवाल और अक्षयकुमार के यहां तीन-चार दिन ठहरे थे। मेरा मिज़ाज रूखा हुआ था, इसलिए नई प्रवृत्तियों के प्रति एक उदासीन-सी प्रक्रिया मेरी चेतना को घेरे हुए थी। तब तक नई कहानी से मैं प्रायः [illegible] नहीं हो पाया था। मेरी इच्छा थी, मैं मुक्तिबोध को अपने घर पर बुलाऊं, उन्हें अपनी न लिख पाने की स्थिति से परिचित कराऊं। निमंत्रित करने मैं उनके पास गया और समय निश्चित करके उनके आतिथ्य की तैयारियों में जुट गया। आज सोचता हूं तो अजीब लगता है। कैसे मामान्य-सी वस्तुएं जुटाने के लिए मैं अतिरिक्त ढंग से प्रयत्नशील हो गया था। घर की हालत खस्ता थी, चूहे कलाबाजियां खा रहे थे। जब मुक्तिबोध निश्चित समय पर नहीं पहुंचे मैं भुनभुनाता रहा: 'न आएं, मैं कौन उनके लिए मरा जा रहा हूं।' घंटे बाद वह तशरीफ लाए। हंसते हुए: 'यह समय की पाबंदियां छोड़ो, चाय पिलाओ, फिर खूब देर तक बातें करें।' दो-ढाई घंटे की बातचीत में उन्होंने नई प्रवृत्तियों और विचार-सरणियों से ऐसा समन्वित कर लिया कि मैं दंग रह गया। मुझे लगा, जैसे दम घुट रहा था और मैं नई हवा में सांस लेने लगा हूं। मुक्तिबोध कवि तो थे ही, एक आलोचक की सम्यक् सम्पन्नता भी उनकी विलक्षण विभूति थी। वह प्रभावित कर देते थे, अपनी बात मनवा लेते थे, और आप यह महसूस नहीं करते थे कि सलाह दी जा रही है,

फुसलाया जा रहा है। जीवन की जटिलताओं के संदर्भ में उनका साहित्य-सम्बन्धी विवेचन-विश्लेषण अद्भुत सश्लिष्टता ग्रहण कर लेता था, जो विषय को हृदयगम कराने के साथ ही उनके भयकर अध्ययन-मनन का आतंक-सा भी बैठा देता था।

मुक्तिबोध में जहां एक ओर दूसरो के साथ घुलने-मिलने की ललक रहती थी, वहीं दूसरी ओर उनमे तटस्थता का भाव भी सदा विद्यमान रहता था। वह सहज ही घनिष्ठता स्थापित नही कर पाते थे। यह मैं अपने अनुभव के आधार पर कह रहा हू। मुझे वह उज्जैन से जानते थे। यहा तक कि मेरी किशोरावस्था की सगति का उन्हे ज्ञान था। चेहरे पहचानने मे उन्हें महारत हासिल थी। किन्तु मेरे साथ व्यक्तिगत सदर्भ की बातें वह बहुत दिनो बाद कर सके, अन्यथा वैचारिक धरातल पर ही वह अपने सम्बन्ध को कायम रखते रहे थे। इस मामले मे उनका मन जीतने के लिए एक निजता जरूरी थी। वैसे अपने 'व्यक्ति' की परेशानियो का जिक्र वह शायद ही कर पाते, किन्तु पता नहीं किस कारण से उन्होंने मुझमे विश्वास का कोई कोना ढूढ लिया था। राजनादगाव मे दिवाकर की बीमारी के विषय मे उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा। लिखा कि यदि भोपाल तक आने की व्यवस्था हो जाए तो आगे की वह स्वय देख लेंगे। इन्दौर के डॉक्टर मुकर्जी से वह दिवाकर का इलाज कराना चाहते थे। मैं रेडियो स्टेशन गया। मेरी कोई पहुंच वहा नही थी। अपने ढग से कोशिश की कि मुक्तिबोध को कवि-वक्ता के रूप मे बुला लिया जाए। लेकिन कुछ भी न हो सका। हुआ यह कि उनका लिखित वक्तव्य मगवा लिया गया, वह पढ़ दिया गया, पचीस रुपये भेज दिए गए—जय गंगाजी की!

बहुत स्मरणीय बातो का हवाला ही मैं आपको दे रहा हूं, अन्यथा यत्र-तत्र सभा-गोष्ठियों और साहित्य-समारोहों मे अनेक बार हम मिलते रहे। वहां सम्बन्धित-चर्चित विषयों पर ही बातचीत होती थी। ... के साहित्य-समारोह की मुझे याद हो आयी है। श्री नददुलारे वाजपेयी

फस्टेटिड की डायरी' लिखने से यह कहकर मना कर दिया था कि ऐसे विषय पर लिखवाकर मुझे फंसाया जा रहा है !

बीमारी का किस्सा अब क्या पूछिएगा। अपने विषय में ही कह सकता हूं। मुझे रात-दिन बस यही खयाल रहता था कि किसी भी तरह हो, मुक्तिबोध को बचाना है। मैं समझता हूं, प्रत्येक ने—जो जहां जिस स्थिति में था—इस काम में अपना पूरा-पूरा सहयोग दिया। कुछ कमीनी हरकतों का जिक्र न करना ही बेहतर होगा, वैसे सुना देता हूं''' उल्लेख आप न करें'''डरना-डराना किससे है, मैं कहता हू, फायदा क्या है ? हम प्रतिदिन अस्पताल जाते थे। युवक डॉक्टरों ने मुक्तिबोध के इलाज में विशेष रुचि ली। यहां के उर्दू शायरों की शराफत का मैं कायल हो गया हू। उनमें दिखावे की कोई भावना नहीं थी। संवेदनावश ही वे अस्पताल जाते थे। बाहर बेंच पर बैठ जाते, तबीयत के बारे में दरयाफ्त करते और वापस चले आते।

मुक्तिबोध ने अपनी उद्भटता को अस्पताल में भी नहीं छोड़ा। हुआ यह कि डॉक्टरों ने जब उनके 'लंबर-पंक्चर' की तजवीज की तो हम नहीं चाहते थे कि उन्हें (मुक्तिबोध को) इसका पता भी चले। यह निर्णय लिया गया कि उक्त चिकित्सा के समय यह कहा जाए कि डॉक्टर इंजेक्शन लगाने आ रहे हैं। तीन-चार दिन हमने ऐसा ही किया और हम बहुत खुश थे कि अपने रोग की गम्भीरता से वह अनभिज्ञ हैं, इसलिए किसी प्रकार के संदर्भ की संभावना नहीं है। यह भी होता था कि जब मुक्तिबोध से उनके कोई अंतरंग मिलने आते थे तो हम अक्सर उन्हें अकेला छोड़ देते थे, जिससे उनकी बातचीत में बाधा न पड़े। एक दिन कोई साहब आए। हम बाहर थे। तभी मेरे कान में मुक्तिबोध के कुछ कहने की भनक पड़ी। दूसरे साथियों ने भी सुना और सिर पीट लिया। मुक्तिबोध अपने उक्त परिचित से पूछ रहे थे : 'डू यू नो व्हाट इज लंबर-पंक्चर ?' और तब एक डॉक्टरी अदाज में उन्होंने उक्त चिकित्सा विधि का अच्छा विश्लेषण प्रस्तुत किया। समझने में कसर न रह जाए, इसलिए

साथ-साथ अपना उदाहरण भी दिया : जैसा कि मेरा 'लंबर-पंक्चर' होता है !'...एक तरुण डॉक्टर चाहते थे कि मुक्तिबोध सोचना कम कर दें। उन्होंने बड़े प्यार से मुक्तिबोध से निवेदन किया : 'मुक्तिबोधजी, आप अपने सोचने पर थोड़े दिन पाबंदी रखें, जल्दी अच्छे हो जाएंगे।' मुक्तिबोध ने तुरन्त विनीत भाव से प्रश्न पूछा : 'डॉक्टर, इज़ थिंकिंग ए वालिंटेरी प्रोसेस ?'...ऐसी अनेक स्मृतियां हैं। विलक्षण जीवटता थी उस व्यक्ति में। हर हालत से बाखबर और निडर।

उस गहरे संपर्क की अवधि में हमने उन्हें काफी जाना। मुक्तिबोध अन्तर्राष्ट्रीय संवेदना का फकीर था, जिसके 'व्यक्ति' की क्षुद्र निरीहता आज कोई अर्थ नहीं रखती। कम से कम वह उनके लिए जिम्मेवार नहीं है। वह चले गए, ऐसी क्या जल्दी थी, मगर उन्हें मालूम था कि ऐसा ही होगा !

कविता क्या उनकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का उद्भव-स्रोत और विकास-संघर्ष जिस अनुभव का स्वरूप है, उसकी पकड़ जरूरी है। प्रभाव और तुलना का प्रश्न भी उठाया गया है, किन्तु यह अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण है।

भोपाल में मनाए मुक्तिबोध-स्मृति-समारोह की विस्तृत रिपोर्ट आप मध्य-प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन की मासिक विवरणिका से पढ़ लें, उसमें हमने प्राय: सभी प्रमुख बातों का हवाला दे दिया है।

अन्त में मैं बता दूं कि पिछले कई दिनों से मुझे यह बात बड़ी सतही और व्यर्थ लगती है कि हम उनके विषय में उज्जैन के, नागपुर के या इसी प्रकार के संदर्भ में अधिकार जताएं। जो नगर मुक्तिबोध को रख नहीं सके, उन्हें आज इस बात पर कहां से हक आता है कि वे मुक्तिबोध के विषय में बढ़कर बात कर सकें ? वे मित्र भी अपनी मित्रता और निकटता का दम कैसे भर सकते हैं जो अपने कैरियर के चक्कर में उस सिद्धान्तप्रिय साथी को अकेला छोड़ चल दिए थे। मुक्तिबोध ने मनुष्य पर भरोसा कर बहुत व्यक्तियों से मित्रता सोची, पर वे सभी उसके सुगन्ध

नहीं थे। मुक्तिबोध-प्रसंग की करुणा इस बात से अधिक बढ जाती है कि वे कितने व्यक्तियों को अपना मान जी हल्का करते थे और इस भ्रम से सुखी रहते थे कि उनका कोई है ! क्या राजनादगाव के शरद कोठारी के अतिरिक्त एक भी व्यक्ति इस हिन्दी जगत् में नहीं था, जो उन्हें एक नौकरी खोज देता, जिसके सहारे वे परिवार चला सकते ? कहा थे हिन्दी के पदों पर बैठे उनके मित्र तब ? सच यह है कि हम साधनहीन व्यक्ति को छोटे कसूर की बडी सजा देते हैं और साधन-सम्पन्न को बडे कसूरो की छोटी सजा भी नहीं। मुक्तिबोध का शायद बडा कसूर यह था कि वे साधनहीन थे। इसी कारण वे उन सौभाग्यशालियो मे भी नही थे जो हर साल रूस जाते है और साहित्य के नेता हैं। हर ईमानदार व्यक्ति को अपने विश्वास और मान्यताओं का मूल्य चुकाना पडता है। मुक्तिबोध ने चुकाया। खेद की बात यह है कि ठीक उसी समय उन ही विश्वासो और मान्यताओं का ढिंढोरा पीटने वाले ऐश की जिन्दगी बसर कर रहे थे। मुक्तिबोध तो एक नौकरी तलाश रहे थे, ताकि घर-खर्च निकल जाए। अब यह कहा जा सकता है कि हमे पता नही था। मगर फिर मित्रता, निकटता के दावे क्यों ? और यह क्यो कहा जाए कि मुक्तिबोध की ट्रेजेडी हिन्दी की ट्रेजेडी है ? जी नही, पूरी हिन्दी की कॉमिडी है, ट्रेजेडी सिर्फ मुक्तिबोध की हुई।

लोग कहते हैं कि भविष्य में मुक्तिबोध को हिन्दी और ठीक से समझ सकेगी। हिन्दी जगत् की प्रकृति को ध्यान मे रख, मैं इसका अर्थ यही लेता हू कि अवसरवादिता के दौर आते रहेंगे और लोग मुक्तिबोध को फेरा कराते रहेंगे।

२२ : आग्न्येश्का सोनी

पटेल निवास, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली : १४-१-१९७१ : मेरे मार्क्स में आप मुक्तिबोध ? दरअसल अब मुझे बहुत-कुछ तो याद नहीं है। उनसे हुई भेंट को मैंने कहीं भी लिपिबद्ध रूप नहीं दिया था, और बहुत दिन बीत चुके हैं, इसलिए अपनी स्मृति के आधार पर ही मैं कुछ बता सकूँगी—

पहली बार मैं उनसे राजनांदगाँव जाकर मिली थी। जहाँ तक परिचय की पृष्ठभूमि का सवाल है, इलाहाबाद में शमशेरजी, नरेश मेहता और दूसरे मित्रों से उनके बारे में सुना हुआ था। १९६१-६२ में, अपने शोध-कार्य के सिलसिले में पुरानी पत्रिकाओं का अध्ययन करते समय, बनारस से निकलने वाली 'कवि' (अप्रैल, १९५७) में मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्मराक्षस' को पढ़कर मैं बहुत प्रभावित हुई थी। उसी पत्रिका में नामवर-जी का लेख भी छपा था, जिसमें मुक्तिबोध को सामाजिक संघर्ष का महाकवि अभिहित किया गया है। मुक्तिबोध के सम्बन्ध में जिज्ञासा के साथ, सन् १९६२ में अपनी मध्य-प्रदेश की यात्रा के दौरान, मैंने उनसे मिलने का इरादा बनाया, हालाँकि मेरे मन पर एक आतंक-सा था। मुझे लगा था, वे बात करना शायद ही पसंद करेंगे, किन्तु…

हमारे मित्र कवि दिनेशकुमार शर्मा भी साथ थे। मुक्तिबोध को लेकर मन में जो झिझक थी, उनसे मिलते ही वह अनायास दूर हो गयी—वे इस कदर आत्मीय भाव से पेश आए। हम उन्हीं के यहाँ ठहरे थे, दो-तीन दिन का साथ रहा। उनके परिवार के सभी सदस्यों के साथ हम

घुल-मिल गए। महसूस ही नहीं हुआ कि हम दूर से आए हुए हैं। शाताजी का व्यक्तित्व अपने पति के साथ एकाकार प्रतीत होता था। सोचती हूं, मुक्तिबोध के निर्माण में उनका बहुत बड़ा सहयोग रहा होगा। वे उनके प्रत्येक आदेश के लिए निरंतर तत्पर जान पड़ती थीं। उनकी मेहमान-नवाजी में बनावट का अद्भुत अभाव था—वही रोजमर्रा का सादा खाना, बेलौस बातें।

मुक्तिबोध के साथ अनेक विषयों पर चर्चा हुई। माध्यम हिन्दी भाषा ही थी। मैंने अनुभव किया, वे हर दुनियावी घटना को निजी स्तर पर जीते हैं। उनका जिक्र करते-करते वे भावाकुल हो उठते थे, जैसे जो-कुछ चारों ओर हो रहा है, उनका व्यक्ति उसको केन्द्र-बिन्दु बनकर जीता-भोगता है। जहां प्रगतिकामी शक्तियों का विकास उन्हें पुलकित करता था, वहीं प्रतिक्रियावादी अवरोधों से उन्हें ठेस पहुंचती थी। इस प्रकार उनका हृदय उल्लास और पीड़ा का एक समन्वित कोश नज़र आता था।

मुझसे पोलैण्ड के बारे में जानकारी हासिल करने के लिए वे बहुत उत्सुक थे। पोलिश भाषा के साहित्य के क्रमिक विकास और उसकी अत्याधुनिक प्रवृत्तियों को समझने में उन्होंने विशेष रुचि ली। यूनेस्को की गतिविधियों के प्रति भी वे आश्वस्त थे। पोलैण्ड के सम्बन्ध में वे बिलकुल अनभिज्ञ थे, ऐसा तो कदाचित् नहीं कहा जा सकता। हां, मैंने यथासम्भव बहुत-सी बातें उन्हें बताईं। कह रहे थे, मैं बहुत प्रभावित हुआ हूं।

अपनी कुछ ताजी कविताएं उन्होंने हमें पढ़कर सुनाई थीं। मेरे लिए उपयोगी कुछ सामग्री भी उन्होंने मुझे दी थी—'वसुधा' के कई अंक, 'अंधेरे में' और कई शीर्षक-हीन कविताओं की प्रतियां आदि। कुछ और बाद में भेजने का आश्वासन भी दिया था। वह सब उन्होंने डाक द्वारा भिजवाया। इसी बीच हमारा पत्र-व्यवहार भी रहा। उनके पत्र मेरे पास अभी तक सुरक्षित थे। उन्हें मूल रूप में ही रमेश ले गया है। उनकी प्रतियां वह भिजवाएगा। आप देख लेना।

भोपाल में, जब मुक्तिबोध बीमार थे, मैं उनसे मिलने गयी थी। मेरे

पति भी साथ थे। यहीं इलाहाबाद में ही, हिन्दू रीति से मेरे विवाह के आयोजन में उन्होंने पिता की भूमिका अदा की थी। आज वह दृश्य एक आत्मीय स्मृति बनकर रह गया है। उनकी याद ताज़ा हो आती है—वे अपनी बीमारी का मज़ाक उड़ाते थे, वैसी हालत में भी दिन-प्रतिदिन की घटनाओं के प्रति अत्यधिक सजग और जागरूक! वैसी जीवटता विरल होती है। सचमुच मुक्तिबोध सामाजिक संघर्ष का महाकवि था। 'चांद का मुंह टेढ़ा है' की भूमिका में शमशेरजी ने मेरे नाम से जो हवाला दिया है, उसे मैं सच तो कतई नहीं मानती हूं, हालांकि हिन्दी में विदेशियों का समर्थन प्रकट कराना एक फैशन भी समझा जाता है।

शायद मेरी बातें आपके लिए विशेष उपयोगी न बन सकी हों। आप कभी फिर आएं। सिनॉप्सिस से लगता है, आपका काम बहुत विस्तृत है। मैं उसमें कुछ संशोधन का विचार रखती हूं। सिनॉप्सिस की एक प्रति आप मुझे भिजवा दें। पहले कविताओं का तटस्थ विश्लेषण, तब उनसे जो प्रतिमान उभरें, जीवन-मूल्यों की सापेक्षता में उनका अध्ययन—यही सीधा रास्ता है, एक लिहाज से आपकी यह योजना मुझे बहुत पसंद है।

पत्राचार

वर्मेमा के अध्येता डॉ० नारायणविष्णु जोशी शुजालपुर मंडी में शारदा शिक्षा सदन के हेडमास्टर थे। वहा मुक्तिबोध ने उनके सहायक अध्यापक के रूप मे नवम्बर, १९३८ से जुलाई, १९३९ तक और अक्तूबर, १९४१ से नवम्बर, १९४२ तक कार्य किया था। डॉ० जोशी और मुक्तिबोध का वह सपर्क सहयोगिता के साथ-साथ पारस्परिक परिचय एव घनिष्ठता के सूत्रों से बधकर किस प्रकार विकसित हुआ था, डॉ० जोशी ने उसका विश्लेषण 'कवि मुक्तिबोध के कुछ सस्मरण' (राष्ट्रवाणी मुक्तिबोध श्रद्धांजलि अंक) में किया है। डॉ० जोशी के उस लेख के आधार पर, कुछ सम्बन्धित तथ्यों की स्पष्टता के लिए, मैंने उन्हें एक पत्र लिखा था : मुक्तिबोध शुजालपुर मंडी के शारदा शिक्षा सदन में आपके सहयोगी रहे थे। आपने लिखा है, 'घर के लोग नव-विवाहित वधू को घर पर ही रखना चाहते थे, इस कारण मुक्तिबोधजी को शुजालपुर मंडी छोड़कर उज्जैन जाना पड़ा।' किंतु उनके पुनः लौट आने का विशेष कारण क्या था? मुक्तिबोध और शांताबाई के प्रेम की पृष्ठभूमि और स्वरूप क्या था और मऊ की शांताजी से उनका सपर्क किन परिस्थितियों मे स्थापित हुआ था? श्रीमती कुसुम जोशी और श्रीमती शांता मुक्तिबोध, दोनों की रिश्तेदारी और पुरानी मित्रता के सम्बन्ध मे भी मैं एकदम अनभिज्ञ हूं। कृतज्ञ हूंगा, यदि श्रीमती कुसुम जोशी मुक्तिबोधजी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया मुझे भेज सकें।

डॉ० जोशी का उत्तर : महात्मा गांधी रोड, बम्बई, ३०-५-७० : आपका पत्र प्राप्त हुआ। यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आप कवि गजानन माधव मुक्तिबोध पर कुछ शोध-कार्य करने जा रहे हैं। मेरा-उनका सम्बन्ध सन् १६३६ में उनके बी० ए० उत्तीर्ण हो जाने पर आया। उस समय उनका कवि जाग्रत हो रहा था। बी० ए० के पश्चात् जब वे शुजालपुर मंडी में अध्यापन-कार्य करने लगे, तब वहां के वातावरण का उन पर काफी प्रभाव पड़ा। प्रारंभिक काल में वहां साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रवाद का ही बोल-बाला था। जब श्री नेमिचंद्रजी वहां आए तब से उसमें बदल होना शुरू हुआ। हम लोग सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों के साथ-साथ ही साहित्य में प्रागतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति के विषय में लम्बी चर्चाएं करते। इन चर्चाओं से कवि न केवल प्रभावित ही हुए किंतु उन्होंने धीरे-धीरे अपनी काव्यात्मा को इसी सांचे में ढालने का भी प्रयास किया। इसी पृष्ठभूमि में आपके प्रश्नों का उत्तर दे रहा हूं।

पहला प्रश्न : कवि मुक्तिबोध जब पहली बार मंडी आए तब उनकी शादी हो चुकी थी। किंतु घर के लोग बहू को शुजालपुर में रखना पसंद नहीं करते थे। शांताजी पहली बार गर्भवती थीं। उनकी देखभाल स्वयं करने के लिए कवि की माता ने उन्हें अपने ही पास रखना उचित समझा होगा। लंबे अरसे तक पत्नी का विरह कवि को अखरा होगा। अतः वे नौकरी छोड़कर चले गए।

इस घटना के बाद जब मैं उज्जैन गया तब कवि से मिलने पर पता चला कि उनके माता-पिता यही चाहते थे कि वे एल-एल० बी० हो जाएं और पब्लिक प्रॉसीक्यूटर की हैसियत से काम करने लग जाएं। कवि को इस पेशे से सख्त नफरत थी। साथ ही मंडी का आकर्षण अनेक कारणों से बढ़ रहा था। वहां प्रकृति से सीधा संपर्क बना रहता तथा प्रागतिक विचारों में भी मन गढ़ा रहता। यही कारण है कि कवि अपने आने की सूचना दिए बिना अचानक एक दिन मंडी में मेरे घर पर आ खड़े हुए। हम लोगों ने बाद में उनको नौकरी पर रख लिया।

दूसरा प्रश्न : कवि का शांताबाई से प्रेम-सम्बन्ध इन्दौर में प्रारम्भ हुआ। उस समय कवि बी० ए० में पढ़ रहे थे। इन्दौर में कवि अपनी फ़ूफ़ी के घर रहते थे। ठीक उनकी बाज़ू में शांताबाई अपनी बहन के पास रहती थी। कवि की फ़ूफ़ी तथा शांताजी की बड़ी बहन दोनों महाराजा तुकोजीराव हॉस्पिटल में नर्स थीं। यह कहना कठिन है कि किस कारण कवि शांताबाई की ओर आकृष्ट हुए। जहां तक मेरा कयास है तब की शांता का सुडौल शरीर तथा कपड़े ठीक-ठाक पहनने की तथा शालीनता से बातचीत करने की शैली—ये ही दो मुख्य कारण हो सकते हैं। शांताजी पांचवीं अथवा छठी तक ही पढ़ी थीं। अतः उनमें कवि के जीवन की गहरी अनुभूतियों को समझने की पात्रता का होना सम्भव नहीं था। शादी के बाद भी शांताबाई ने कवि से बौद्धिक धरातल पर सहानुभूति रखने की कोशिश नहीं की। यही कारण है कि मुक्तिबोध का कवि जाग्रत होने पर भी शांताजी की अनुरक्ति कवि के प्रति बढ़ती हुई नज़र नहीं आयी। प्रत्युत व्यावहारिक जीवन के प्रति कवि को विमुख देखकर वे मन ही मन कुढ़ती रहतीं।

तीसरा प्रश्न : वैसे यह प्रश्न श्रीमती कुसुम जोशी से पूछा गया है। स्वयं इस प्रश्न का उत्तर लिखने से उन्होंने इनकार किया है। उनकी बातचीत से जो जानकारी मिली वही संक्षेप में दे रहा हूं। श्रीमती कुसुम जोशी के चचेरे भाई बाबूराम तेलंग के जमाई की शांताबाई बहन है। शादी के पहले दोनों उज्जैन में कुछ काल तक साथ रहीं। शादी के बाद में भी मंडी में उनका आपसी व्यवहार रहता। दोनों के सम्बन्ध प्रेमपूर्ण थे।

स्वयं मुक्तिबोध से उनका व्यवहार घर के आदमी जैसा था। जब कभी आते हर आध घंटे में चाय तैयार करने का उन्हें आग्रह होता। पीते-पीते मज़ेदार गपशप होती। हमारी शादी जमाने के सिलसिले में कवि ने काफ़ी दिलचस्पी ली थी।

मैंने श्री मुक्तिबोध पर 'राष्ट्रवाणी' के लेख के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिखा। आशा है, आपको अपने प्रश्नों के उत्तर संतोषजनक जचेंगे। आपको अपने शोध-कार्य के दौरान में यदि और भी कुछ जानने की इच्छा

हुई तो अवश्य लिखें।

'गजानन माधव मुक्तिबोध : व्यक्ति, अनुभव और अभिव्यक्ति' विषय पर शोध-कार्य की अनुमति के बाद मैंने डॉ० के० पी० सारथी को दिग्विजय कॉलिज, राजनांदगांव के पते पर एक पत्र लिखकर कतिपय प्रारंभिक सूचनाएं प्राप्त करनी चाही थीं। डॉ० सारथी राजनांदगांव के दिग्विजय कॉलिज में अंग्रेजी के प्राध्यापक थे और वहां मुक्तिबोध के साथ उनका घनिष्ठ संपर्क रहा था। मेरा वह पत्र 'री-डायरेक्ट' होकर उन्हें वारंगल मे प्राप्त हुआ था। उनके उत्तर से पता चला कि करीब दो साल पहले वे राजनांदगांव छोड़कर वारंगल चले गए थे। भोपाल के मुक्तिबोध-स्मृति समारोह में उन्होंने अपना जो निबंध अंग्रेजी में पढ़ा था, उसी का अनुवाद डॉ० गंगाप्रसाद विमल संपादित 'मुक्तिबोध का रचना-संसार' में प्रकाशित हुआ है। उसके अतिरिक्त मुक्तिबोध पर उनके दो निबंध 'दी कंटेम्परेरी इंडियन लिटरेचर' के तीसरे और चौथे अंक में प्रकाशित हो चुके हैं। मुक्तिबोध के साथ काव्य और साहित्य की विभिन्न समस्याओं पर हुई चर्चाओं का जो लेखा उनके पास डायरी के रूप में सुरक्षित है, उसके उपयोग की अनुमति और सुविधा इसलिए नहीं मिल सकती, चूंकि उसको प्रकट करने का निश्चय उन्होंने अभी तक नहीं किया है : 'राजनांदगाव में मुक्तिबोध'—विषय पर आप जो-कुछ मुझसे पूछना चाहते हैं, उसे एक प्रश्नमाला के रूप मे भेजिए, मैं उत्तर देने की कोशिश करूंगा।

दिनांक १७-१०-७० को प्रेषित एक पत्र में मैंने उन्हें लिखा था कि आपने मुक्तिबोध के जीवन का अध्ययन अपने दृष्टिकोण से किया होगा, उसके लिए मेरी प्रश्नमाला शायद उतनी सार्थक नहीं हो सकती, फिर भी—१. दिग्विजय कॉलिज में आपका कार्य-काल ? २. मुक्तिबोध से आपका परिचय और घनिष्ठता की पृष्ठभूमि ? ३. पारस्परिक चर्चाओं का माध्यम ? ४. आप मुक्तिबोध के विचारों से कहा तक सहमत थे ? ५. मुक्तिबोध का अपने अन्य सहयोगियों के साथ कैसा संपर्क-सम्बन्ध रहा था ? ६. 'अध्यापक के रूप में मुक्तिबोध'—आप अपनी रीडिंग बताएं ? ७. 'मुक्तिबोध का

get him latest scholarship to read. And he found in me one who had these resources. 3. Well, at first English, but soon English and Hindi, and later on Hindi with English interspersions. 4. Well, you embarrass me. 5 and 6. Need elaborate replies, and *involve personalities. After 'Vipatra' I don't want to commit my ideas to paper until I feel the time is opportune. 7. I know the 'Dharmyug'* story truly picturizes his domestic life. I am collecting my ideas in this regard, and it will be sometime when I can acquaint you with this in detail. 8. I have promised Dr. Vimal a longist article on this, but I have yet to commit my ideas to paper.

I hope you will find my articles on Muktibodh readable. *Even sinc they were written I have not gone through them myself. Muktibodh once showed the magazine to* me and said that he 'liked' it. I asked him if he would like to see something about him printed in the same journal.—अरे यार, कौन लिखना है मेरे बारे में ! My article appeared just two months after this.

प्रत्येक लेखक का व्यक्तित्व अन्ततोगत्वा उसकी रचनाओं से सपृक्त होता है, हालाकि विश्लेषण के अंतर्गत रचनाओ के स्वतंत्र अस्तित्व की अवधारणा को ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जब लेखक की नितात व्यक्तिगत परिस्थितियों या निजी परिवेश से विचलित होकर नितात व्यक्तिगत स्तर पर ... किसी रचना को परखने का आग्रह किया जाता है, तब बाहर यात्रा के जो खतरे होते हैं, वे भी उसमें आ जाते हैं। बख्शीजी का पत्र निस्संदेह अवलोकनीय है।

दिग्विजय महाविद्यालय, राजनांदगांव : ३-५-६६ : 'ज्ञानोदय' के मार्च और अप्रैल के अंक में मुक्तिबोधजी की 'विपात्र' शीर्षक एक लंबी कहानी निकली है। उस कहानी ने यहा एक हलचल मचा दी है। मैं भी वह कहानी पढ गया। उस कहानी मे ऐसी कोई विशेषता नही है, जिससे पाठक उसकी ओर आकृष्ट हो, परन्तु एक तो वह मुक्तिबोधजी की रचना, और दूसरी बात यह है, कि उसमे दिग्विजय कॉलेज के सम्बन्ध मे मुख्य रूप से प्राचार्य, उपप्राचार्य और अध्यापको के सम्बन्ध मे कितनी ही अप्रिय बातें लिखी गयी हैं। यही कारण है, कि यहा कितने ही लोगो ने बडी व्यग्रता से उस कहानी को पढा। कहानी के रूप मे उस कहानी से मुझे कोई भी सतोष नही हुआ है। मुझे तो ऐसा ज्ञात पडा कि मुक्तिबोधजी की रचना होने के कारण वह कहानी प्रकाशित हुई है। साहित्य के क्षेत्र मे यह बात अत्यन्त साधारण है, कि विशेष ख्याति प्राप्त कर लेने के बाद ऐसे लेखको की साधारण रचनाओं में भी अनायास एक गौरव आ जाता है। यह भी सभव है कि आजकल नई कहानी मे कला की जो एक विशेषता देखी जाती है, वह उस कहानी मे भी विद्यमान हो। परन्तु इसमे सदेह नही, कि कहानी के रूप मे मुझे वह कहानी बिलकुल अच्छी नही लगी। फिर भी यह सच है, कि जब वह कहानी मुझे मिली है, तब मैं भी उसे व्यग्रता से पढ़ गया। हम लोग किसी के सम्बन्ध मे जब किसी प्रकार से निंदा की बात सुनते हैं, तब उसकी ओर एक विशेष आकर्षण हो जाता है। स्तुति मे तो चाटुकारिता मानी जाती है, परन्तु निंदा मे एक निर्भीकता, एक स्पष्टवादिता का गौरव देखा जाता है। कितने ही कारणो से निंदा और स्तुति मे पूर्ण लेख निकला करते हैं। राजनीति की तरह साहित्य में भी कितने ही दल बन गए हैं, और एक दल के लोग दूसरे दल के लोगो के प्रति एक विशेष हीनता का भाव रखते हैं। इसी से उनकी निंदा की जाती है। कथा-साहित्य मे भी कुछ विद्वानो ने इसी कारण कुछ उपन्यासो की निंदा की है, और कुछ की स्तुति। मुझे अवश्य उस कहानी को पढ़कर आश्चर्य हुआ। प्राचार्य किशोरीलालजी शुक्ल मुक्तिबोध के सम्बन्ध में बड़ी ऊंची